

प्रकाशक—

जवाहरलाल खडेलवाल बी० ए०  
प्रगतिशील प्रकाशन मन्दिर  
आगरा

# अकारादि क्रम से घनानंद शतक की पद सूची

पद	पद संख्या *व.श घ.क	पद संख्या *घ.श घ.क.
अ		
ते पानि पर्यो दिन	५० ५२	किहि नेह विरोध बढ्यौ सवसों ७ ६७
नेह को मारग है	११ ८२	कहाँ एतो पानिपत्रिचारी ८७ ७४
कते सुजान प्रीति	३५ ६३	कह्यौ मधुर लागै वाके ६७ ८३
देखें तौ	७३ १६	कारी कूरि कोकिला कहाँ को ६८ ८४
प्रकास मधि	७६ १६	कित को घरिगौ बह दार ४१ ८७
चौधि कै	२६ २३	क्यों हू न चैन परै दिन रैन ५४ ६२
उसास तवै अति	७६ २४	ख
दाह औखिन प्रवाह	८१ ३६	खोइ दई बुधि सोइ गर्द सुधि ४ २८
आसी पै प्रवासी कोसो	४० ८६	ग
इ		
री सुधि रावरे भूलनि	३७ ६८	घ
भोवरे भौर भरें	२० ६०	घन आनंद जीवन मूल सुजान ७५ १७
उ		
कन ससकत	८२ ४६	घन आनंद रस एन २५ २१
दे		
न तेरौ सवै ओर गौन	६२ ७०	घेर उवरांनी उवरांनी ही रहित ६६ २६
एकै विसवास	३८ ७१	घर ही घर चौवैद चौचर है ८ ७६
क		
हेरि हर्यो हियग	२२ ११	घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ ४२ ८८
उर अतर में	४७ ४३	घर वन बीथिन में ४४ ६५
सरन जैये आयु ल्यों	५१ ६२	च
		चातिक चहुल चहुँ ओर ५३ ३३
		चोप चाह चावनि चकोर १६ ३५
		चद चकोर की चाह करै ६ ४४

-घनानंद शतक (प्रस्तुत पुस्तक)

-“घनानंद कवित्त”-विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित और सरस्वती

छ छवि को सदन १२ ३

ज जासों प्रीति ताहि ४५ ५

जेतौ घट सोधो पै न पाऊँ ८० १८

जहाँ ते पधारे मेरे नैननि ही ६० २०

जान के रूप निहारि कै नैनन ३ २५

जान राय जानत सबै २७ २६

जीवन हौ जिय की सब जानत १५ ३४

ज्यो बुधि सो सुघराई रचै ५६ ४५

जान प्यारी हौँ तौ अपराधनि ३२ ५४

जोई रात प्यारे सग १०० ६३

जिन ओखिन रूप चिन्हारि ४३ ६४

जीव की बात जनाइये क्यों ६५ ६८

भ भलकै अति सुन्दर आनन गौर ११ २

त तत्र तौ छवि पीवत जीवत हे ५५ १३

तत्र हूँ सहाय हाय कैसे ४६ ३१

तपति उसास औधि रुंधिये ४६ ५१

तेरे देखिबे को सवही ल्यों ३३ ६०

तोहि तो खेल पै मो दिय ६६ ६६

द दसन बसन ओली भरियै १६ ७५

न नेह निधान सुजान समीप तौ ६३ ४०

नैनन में लागे जाय जागै सु १७ ४१

निस द्यौस खरी उर मोभअरी १८ ६६

प

पहिले घन आनंद सीचि

प्रीतम सुजान मेरे सुख के

पहिले अपनाय सुजान

पहिचाने हरि कौन

पाती मधि छाती छति

पाप के पु ज सकेलि सु कौन

पीरी परि देह छीनीराजत

पूरन प्रेम को मत्र महापन

फ

फागुन महीना की कहीना परै

व

विकच नलिन लखै संकुचि

विस लै विसार्यो तन

विकल विषाद भरे ताही तरफ

वधिकौ सुधि लेत सुन्यौहतिकै

वैरी वियोग की हूकन जारत

विरहा रवि, सो घट व्योमतच्यं

विरच्यौ किहि दोष न जान

भ

भोरते सोंभ लौं कानन ओर

भए अति निटुर

म

मीत सुजान अनीति करौजिन

मोही मोह बनाकै

मखिओ विसराम गनै वह तो

मेरो जीव तोहि चाहै

## दो शब्द

प्रस्तुत संग्रह में रीतिकाल के रीति मुक्त कवि घन आनंद के सौ कवित्तों संग्रह है। आरंभ में उनके काव्य की मूल-भावधारा को सुस्पष्ट करने के हेतु, आलोचनात्मक निबंध भी दे दिया गया है। घनानंद रसिकों के प्रिय कवि हैं, यद्यपि नीतिवादियों के द्वारा उनकी उपेक्षा उनके अपने समय में भी थी। कुछ भदौओं में उन्हें 'गुंदा' और 'सुजान की पीक दान का कीड़ा' के विशेषणों से विभूषित किया गया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अनन्द-प्रंथावली की भूमिका में इन भदौओं का उल्लेख किया है। पर इधर दी के साहित्यिकों और विद्यार्थियों का ध्यान रीति काल के इस मधुर कवि ओर जाने लगा है। अनुभूति की सच्चाई उत्कृष्ट काव्य की कसौटी है। श्री ऐन्द्रिकता या विलासलिप्सा से प्रेरित काव्य अनुभूति संकुल भाव-लहरी समानता नहीं कर सकता। इसीलिए रीति काल के पराम्पराभुक्त काव्य के व में घनानन्द की भावनुभूति अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस वेदनशील कवि की प्रतिभा से रीतिकाल के गौरव का एक पक्ष बहुत समुन्नत भावों की अनुभूतिमयता के साथ साथ उनकी 'व्रज भाषा की प्रवीणता' भी द्वितीय है। ढोलचाल की भाषा कितनी मुहाविरेदार होती है और उन मुहाविरों कितनी व्यञ्जना भरी रहती है यह कहने की आवश्यकता नहीं। प्रेमचन्द की नदी इसीलिए इतनी सशक्त और लोकप्रिय है। घनानन्द की व्रज भाषा की भी एक विशेषता है। मुहाविरों का प्रचुर प्रयोग उनके काव्य में सहस्रमता और पुण्यता के साथ हुआ है। पर व्रज भाषा क्षेत्र से बाहर के लोगों के लिए इस ढार की भाषा की व्यञ्जना और सुन्दरता को पूरी तरह पकड़ लेना दुष्कर होता है। कवि के समय के साहित्य की आलंकारिक प्रवृत्ति भी उसके काव्य में तेजिलित हुई ही है। अतः उनके सौ कवित्तों को (सवैया के लिए भी कवित्त शब्द का प्रयोग पुराने लोग करते थे) विभिन्न भावनाओं या प्रवृत्तियों के अनुसार ई शीर्षकों में बाँट कर हमने उन पर भाष्य लिखते हुए विशेष अर्थों अलंकारों, हाविरों और परिपाटियों का भी संकेत कर दिया है। मेरी समझ से घनानन्द काव्य की मूल भावधाराओं को इस प्रकार सक्षेप में समझ लेना सुगम हो

जायगा और उनके काव्य की भावना और भाषा दोनों का लालित्य भी इन्हीं में मिल जायगा ।

भाष्य लिखते समय कवि के शब्दों का विशेष ध्यान रक्खा गया है। भाव की आत्मा को भी पकड़ने का प्रयास किया गया है। इसके बिना भाष्य भाव दोनों का मायुर्य एक साथ स्पष्ट नहीं हो सकता था। कवि की बात लेकर वे पर की उड़ान भरने की चेष्टा हमने नहीं की है। कवि के शब्दों की सीमा में अपने को बाँध कर ही उसकी बात को स्पष्ट कर देने का प्रयास किया है। इसलिये यह भाष्य बहुत कुछ संस्कृत की टीका के ढंग का हो रहा है, हिन्दी में आजकल प्रचलित आजकल के स्वतन्त्र भाष्य या व्याख्या रूप उसका नहीं रहा है। पर इस टीका की प्रणाली से ही काव्य के बहिर्भाव और अन्तर्भाव, दोनों की सम्पूर्ण विवेचना की जा सकती है। व्याख्या-शैली अपने भाषा या भाव के प्रवाह में पड़कर बहक जाने की गुंजाइश अधिक रहती है। सुन्दर शैली में सुन्दर व्याख्या पढ़ने के बाद भी यह संभव हो सकता है कि कवि की पक्तियों का अर्थ छुआ ही न गया हो। इसी कारण से संस्कृत के उपनामधन्य टीकाकार महिनाथ की टीकाएँ संस्कृत के काव्यों को पूर्णतः समझने के लिए इतनी अपरिहार्य हैं। वहाँ किसी पक्ति या शब्द के अर्थ का छूट जाने की संभावना ही नहीं रहती। हाँ, स्वतन्त्र गद्य का अनुकरण प्रवाह का आवश्यक नहीं रहता।

अस्तु, घनानन्द के पाठकों को यदि इस संग्रह से कुछ लाभ हो सके तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे।

बहुत चेष्टा करने पर भी प्रूफ की कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। आशा कि पाठक उन्हें सुधार कर पढ़ लेंगे।

—सुरेशचन्द्र दुर्गा

पद संख्या  
\*घ श. घ.क.

सुरभाने सवै अंग ८५ ६५  
मन जैसे तुम्हें चाहत है ३६ ८०  
मोहन अनूप रूप सु दर ५३ ६१  
मही दूध सम गनै ६ १००

र

रिवरे रूप की रीति अनूप १४ १५  
रौम रोम रसना हूँ गनै २६ ३२  
राति द्यौस कटक सेजही रहै ३१ ५३  
रंग लियौ अबेलानि के ६२ ७२

ल

लाजनि लपेटी चितवनि १० १  
लै ही रहे हो सदा मन २८ २७  
लगी है लगन प्यारे पगी है ३४ ६१  
लगियै रहै लालसा देखन की ८६ ८१

पद संख्या  
\*व श. घ.क.

व

वहै मुस्कयानि वहै मृदु १३ ४

स

सुभै नहीं सुरभ उरभ ५८ ३८  
साधनि ही मरियै भरियै ७७ ४८  
सुखनि समाज साज सजे ७४ ५०  
सुधाते खवत फूल ६४ ५५  
सोए न सोइवो जागे न जाग ८३ ७८  
सोंधी की वास उसासहि रोकत ६६ ७८  
सुनि री सजनी रजनी की ८८ ७६

ह

हीन भए जल मीन अधीन २ ८  
हिये में जु आरति सु जारति ४८ ४६

आगरा और दिल्ली विश्वविद्यालय के एम० ए० पाठ्यक्रम में निर्धारित विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित घनानंद कवित्त के प्रथम १०० कवित्तों का घनानंद शतक में पद सख्या निर्देश ।

घ० क०	श०	घ० क०	श०	घ० क०	श०	घ० क०	श०
१	१०	२६	२७	५१	४६	७६	८
२	११	२७	२८	५२	५०	७७	५२
३	१२	२८	४	५३	३१	७८	६६
४	१३	२९	६९	५४	३२	७९	८८
५	४५	३०	७०	५५	६४	८०	३९
६	६७	३१	४६	५६	६०	८१	८९
७	२०	३२	२९	५७	६५	८२	१
८	२	३३	५	५८	८३	८३	६७
९	२१	३४	१५	५९	८४	८४	६८
१०	७२	३५	१६	६०	३३	८५	६९
११	२२	३६	३०	६१	३४	८६	४०
१२	२३	३७	५७	६२	५१	८७	४१
१३	५५	३८	५८	६३	३५	८८	४२
१४	२४	३९	८१	६४	६६	८९	७८
१५	१४	४०	६३	६५	८५	९०	२०
१६	७९	४१	१७	६६	१८	९१	५३
१७	७५	४२	६१	६७	७	९२	५४
१८	८०	४३	४७	६८	६७	९३	१००
१९	७३	४४	६	६९	६१	९४	४३
२०	९०	४५	५९	७०	९२	९५	४४
२१	२५	४६	४८	७१	३८	९६	६३
२२	५६	४७	७१	७२	६२	९७	६४
२३	२६	४८	७७	७३	८६	९८	६५
२४	७६	४९	८२	७४	८७	९९	६६
२५	३	५०	७४	७५	१९	१००	९

## प्रेम और विरह के मधुर-कवि—

### घनानन्द

रीतिकाल की बँधी परिपाटियों के बीच कुछ नेही कवियों की जो मृदुल रस-धारा, अपनी अनुभूतियों की सजल वेदना लिए हुए, निराश प्रेमी की करुण-गाथा प्रस्तुत करती है, हमारे काव्य-साहित्य की मूल्यवान निधि है, 'सुन्दरतानि के भेद' को जानने वाले इन 'महानेही' ब्रज भाषा-प्रवीण' कवियों ने 'चाह के रग में' आपादमस्तक डूब कर जो रूप-माधुरी की मोहक आभा विकीर्ण की है, और 'हिय आँखिन' से 'नेह की पोर' को 'तक' कर जो मर्म मरी वेदना व्यञ्जित की है, वह 'सुरतान्त' और 'विपरीत रति' की विकट वीभत्सता से पकिल कला के कर्दम में कमल-वन की मृदुल माधुरी के समान मधुर और मोहक दिखाई देती है। घनानन्द की प्रेम-व्यथा भी, इस अनेक अनुभूतियों और आर्कोक्ष्यों के बहुरंगी ससार में, अपनी कसक का कोमल संगीत सुनाने में तल्लीन है। कवि अपनी प्रीति में जैसे समा गया है, उसके प्रेमी जीवन की सारी करुणा जैसे उसके अनुभूति-सकुल हृदयाकाश में भेघ बन कर छा गई है और कविता की पक्तियाँ विरह-वेदना की कौंध होने पर भर भर बरस पड़ने को व्यग्र हो उठती हैं। वे रीतिकाल के कवियों में अपनी अनुभूति-जन्य विरह वेदनाओं की मार्मिक व्यञ्जनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी समस्त रचनाओं में विरही मन की दीनता, विनम्रता और दुःख सहन करने की क्षमता का अपार पारावार हिलोरे मारता दिखाई पड़ता है। उनकी रचनाओं की ही भोंति उनकी जीवन यात्रा भी असफल प्रेम-जन्य आपदावातों की करुण-कहानी है। अनन्त अनुराग से मरे अपने हृदय को सुजान पर निछावर कर देने का सकल्प लेकर वह प्रेम-पथिक बढ़ी धीरता से आगे बढ़ा, पर प्रियतमा के सौन्दर्य दर्शन में निरन्तर डूबे रहने वाले इस प्रेमी



को अन्त में गोपियों के वियोग-जल से भीगे हुए वृन्दावन में आकर, उन्हीं तरह 'सुजान' के वियोग के लम्बी उदासी के दिन प्रपनी करुण कहानी गा कर बिताने पड़े थे । बादशाह का कोप-भाजन बन कर उन्हें निर्वासित हं पड़ा था ।

उनके इस विरह निवेदन में बड़ी करुणा है । प्रेमी उस प्रियतम अपना विरह-व्यथा सुनाता है, जो उसे सुनने के लिए निकट नहीं है । उसे उलाहना देता है कि तुम क्यों मुझे मँझदार में छोड़े जा रहे हो । इस प्रकार विश्वास में विष घोलना तुम्हें शोभा देता है —

“पहलैं अपनाय सुजान सनेह सो, क्यों फिरि तेह सों तोरियै जू ।  
निरधार आधार दै धार मभार, दई ! गहि बाँह न बोरियै जू ॥

×                      ×                      ×                      ×

रस प्याय कै ज्याय, बढाय कै आस, विसास में यो विस घोरियै  
उसका प्रियतम जीवन-मूल होते हुए भी उसे प्यासो मार रहा है, अन कर रहा है:—

“मीत सुजान अनीति करौ जिन, हा हा न हूजिए मोहि अमोही ।  
दीठि कौँ और कहे नाहि ठौर, फिरी दग रावरे रूप की दोही ॥  
एक विसास की टेक गहैं, लगि आस रहे बसि प्रान बटोही ।  
हौ घन आनंद जीवन-मूल, दई ! कित प्यासनि मारत मोही ॥

उसको अपने प्रियतम से यही सबसे बड़ी शिकायत है कि पहले 'पगी' बातों से रस-सिचन करके अब वह उस प्यार को निभाता नहीं.—

पहिलैं घन आनंद सींचि सुजान कहीं बतिया अति प्यार पगी ।

अब लाय वियोग की लाय, बलाय बढाय विसास दगानि दगी ॥

इसी लिए वह उससे पूछता है कि क्या तुमने प्यार करना सरल सम लिया था ? क्या तुम्हें पता नहीं था कि प्रेम करना तो आसान है, किसी अपने प्रेम पाश में बाँध लेना सरल है पर उस स्नेह का निर्वाह करना, जो उसका साथ न छोड़ना, उतना सरल नहीं है ।

उसके नेत्रों की दशा भी मोह-मिठास से ठग कर विचित्र हो गई है.—

अँखिया दुखियानी कुबानि परीं, न कहूँ लगें, कौन घरी सु लगी ।

मति दीर यकी, न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी ॥

अपनी इस दशा में गहराई से पैठ कर कवि सोचता है कि प्रियतम यदि स्वयं एक बार मेरी स्थिति में आ पाते तो शायद मेरी घेदना को, मेरी तड़प लो अच्छी तरह समझ लेते । मेरी ही तरह वे भी किसी को अपना हृदय देना सीखते और फिर उससे या स्वयं से ही न्यारे होने का आनन्द उठाते तो मेरी दशा का उन्हें पता लग जाता । इस भाव की निम्न पद में बड़ी सच्ची और गम्भीर अनुभूति की व्यञ्जना कवि ने की है:—

“लै ही रहे हौ सदा मन और को, देवों न जानत जान दुलारे ।

देख्यो न है सपने हूँ कहुँ दुख, त्यागे सँकोच औ सोच सुखारे ॥

कैसे सवोग वियोग धौं आहि, फिरी घन आनंद हूँ मतवारे ।

मो मति बूझि परै तब ही, जब होहु घरीक हूँ आपुर्ते न्यारे ।”

प्रियतम की ओर इस प्रकार की सवेदन अनुभूति के अभाव में ही उसे रो रो कर यह कहना पड़ता है:—

“तब है सहाय हाय कैसे धौं सुहाई ऐसी,

सब सुख सग लै विछोइ-दुख दै चले ।”

इसी प्रकार कवि ने अनेक छन्दों में अपने दुःख-कातर मन की असह्य पीड़ा को प्रकट किया है । इस प्रलाप में अनुभूति-सकुल मानव हृदय की शत शत आकक्षाएँ मूर्त रूप धारण करके आई हैं । हर पद की एक एक उक्ति में हृदय लिपटा चला आता है । मन को झकझोर देने की उसमें अपरिमित शक्ति है । जहाँ तक विरहों के मन में उठने वाले भावों को अंकित करने का प्रश्न है घनानन्द ने इस क्षेत्र का कोई कोना अछूता नहीं छोड़ा । विरही को हर स्थिति में ढाल कर उन्होंने उसके मन की अनेक सूक्ष्म अन्तर्दशाओं का उद्घाटन किया है । भावों एवं अन्तर्दशाओं के उद्घाटन में उनकी दृष्टि बड़ी पैनी तथा सूक्ष्म बहुत गहरी है ।

प्रेमी सदा यही कामना करता है कि उसका प्रिय उसके समीप ही बना रहे, क्षण भर भी उससे दूर रहना उसे नहीं सुहाता । अतः वियोगावस्था में वह शारीरिक संयोग के अभाव में स्मृति के सहारे भावात्मक संयोग स्थापित करता रहता है । अतीत स्मृतियाँ उसे आ घेरती हैं और वह उन्हीं वस्तुओं को याद करना आरम्भ कर देता है । उसके हृदय में प्रबल भावना उठने लगती है कि मेरे अनन्त सुषमामय प्रिय आएँ और अपने प्रसन्न-वदन के दर्शन रूप-रस के प्यासे नेत्रों का दे जाएँ—

“छवि को सदन मोद-मदित वदन-चन्द,

तपित चखनि लाल कबधौ दिखाइहौ ?

उसकी यह अभिलाषा तीव्र से तीव्रतर हो जाती है और वह अपने प्रिय को, जिस किसी भी प्रकार सम्भव हो सके, बुलाने का प्रयत्न करता है । उसके हृदय में यह लगान घर कर जाती है । उपर्युक्त मनोवृत्ति प्रायः सामीप्य लाभ करने के इच्छुक प्राणियों में प्रबलतम रूप धारण कर लेती है । सूरदास की गोपिकाएँ इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं । इसी मनोवृत्ति में परिचालित होने से उनकी सारी क्रियाओं का, उनकी सारी उक्तियों का, एक मात्र लक्ष्य यही सिद्ध होता है कि जैसे भी हो कृष्ण व्रज तक आ जाएँ, चाहे छल से, चाहे कपट से, चाहे प्रलोभन से, चाहे स्नेह से, चाहे दयालुता से । अतः कृष्ण के मिलन की आशा का ही मूलोच्छेद करने वाले उद्धव पर वे कभी अनेक पक्षतियों कसती हैं, कभी उन्हें अपने विनोद का माध्यम बनाती हैं, कभी चातक, कोकिला, पवन आदि से कृष्ण को बुलाने का अनुरोध करती हैं । किन्तु धनानन्द में इस प्रवृत्ति के दर्शन प्रायः नहीं होते । यह बात नहीं कि वे न चाहते हो कि उनका प्रिय उनके समीप बना रहे । वे चाहते थे और उनके हृदय की तब इच्छा यही थी कि सुजान से उनका चिर संयोग बना रहे किन्तु अभाव का नाम मजबूरी है । वे अपने प्रियतम को बुलाने में असमर्थ थे । प्रियतम सुजान ने उनके अनुराग भरे हृदय जैसे पवित्र प्रेम-पत्र को बिना पढ़े ही, बिना उसका आशय समझे टुण् ही, पाड़ कर फेंक दिया था.—

पूरन प्रेम को मन्त्र महा पन जा मधि सोधि सुधारिकै लेख्यौ ।  
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि, यों पचि कै रचि राखि विसेख्यौ ॥  
ऐसो हिरो हित पत्र पवित्र जु, आनि कथा न कबहु अवरेख्यौ ।  
सो घन आनंद जान अजान लौं दूक कियो पर वॉचि न देख्यौ ॥

इतने अनादर और तिरस्कार के बाद वह भावुक प्रेमी, कैसे और किस मुख से, उसी प्रियतम से आने का अनुगोष करना, कोकिला और चातक को किस प्रेरणा से प्रियतम को बुलाने मेजता ? किस मुख से वह किसी से आग्रह करता कि सुजान यदि सोधी तगह न आएँ तो छल बल करके, किसी न किसी प्रकार उसे अवश्य ले आएँ । अतः घनानन्द के विरह निवेदन में अत्यन्त रूपासक्ति होने पर भी प्रिय को बुलाने का प्रयत्न नहीं है । केवल एक असफल प्रणयी के मन का नीरव हाहाकार और विषम प्रेम के आलम्बन सुजान का उदासीनता के प्रति करुण चीत्कार ही वहाँ है । उनके एकांगी प्रेम की मुखर वेदना प्रिय के प्रति उपालभ देने में ही विकल रही है ।

इस प्रकार के विषम प्रेम की अन्य विशेषताएँ हैं प्रेमी का अपना आत्म समाधान, उसका अपने नाग्य को दोष देना, प्रियतम की रूप-माधुरी के ध्यान में डूबे रहना और अपनी दशा, प्रिय का अन्याय, लोक की निन्दा आदि विषयों को लेकर गम्भीर चिन्तन में निमग्न रहना । प्रियतम को उपालम्भ देने के साथ-साथ उसके 'मुख को दुराने' के भाव में उसकी 'पीठ देखने' का यह छूँछा विजयोत्सास, अलम्ब्य तोष वृत्ति के अर्थ विरह की निर्वाध धारा में भटकते हुए विकल विरही मन के मरुभूमि के, प्यासे हरिण जैसे भाव को, कितने मर्म-स्पर्शी आत्म-समाधान के रूप में यहाँ व्यजित कर रहा है—

तोहि तो खेल, पै मो हिय सेल सो, एरे अमोही बिछोह महादुख ।  
जाहि जु लागै सु ताहि सहैगो, पै क्यों न परखो लहि तू तौ सदा सुख ॥  
एक ही टेक, न दूसरी जानति, जीवन-ग्रान सुजान लिए रख ।  
ऐसी सुशाय तौ मेरो कहा बस, देखिदौ पीठि दुरायहौ जौ मुख ॥

स्पष्ट ही विषम वियोग की वेदना से विकल प्रणयी इस काल्पनिक विजय में आत्म-समाधान खोज रहा है। बहुत निराग होने पर अपने भाग्य के मत्थे सारा दोष ढालते समय भी वह इमी सन्तोष या समाधान को खोज में व्यस्त दिखाई देता है—

आखिन हू पहिचानि तजो, कछु ऐसोई भागनि को लहनो है।

अथवा—

रैन दिन चैन को न लेम कहूँ पैये भाग,

आपने ही ऐसे दोष काहि धौ लगाइए।

पर इस वियोगी के सबसे मधुर क्षण प्रियतम की रूप-माधुरी के ध्यान के क्षण होते हैं। 'साँवरी सारी' में लिपटी हुई गोरी प्रियतमा की, 'घटाओ में लिपटी' हुई बिजली जैसी छवि, भला वह भूल सकता है.—

स्याम घटा लिपटी थिर बीज, कि सोहे अमावस अँक उज्यारी।

धूम के पुञ्ज में ज्वाल की माल सी, पै दग शीतलता सुखकारी ॥

कै छवि धायो सिंगार निहारी, सुजान तिया-तन दीपति प्यारी।

कैसी फबी घन आनंद चोपनि, सो पहिरी चुनि साँवरी सारी ॥

अनुरूप उत्प्रेक्षाओं की छटा भी यहाँ दर्शनीय है। प्रियतमा के तन की दीप्ति पर शृंगार के छा जाने की कल्पना बड़ी भाव-पूर्ण है। शृंगार का रस स्याम होता है इस रूढ़ि का भी सुन्दर उपयोग यहाँ किया गया है। पर सुस्पष्ट रूप-चित्र से भर-भर भरते हुए सौन्दर्य का चित्रण निम्न पक्तियों में बहुत सुन्दर हुआ है—

। भलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दग राजत कानन छुवै।

x

x

x

। लट बोल कपोल कलोल करे, कल कट बनी जलजावलि द्वै।

। अँग अँग तरंग उठे दुति का, परिहै मनौ रूप अबै वर चवै ॥

'गोरे मुख पर विशाल नयनों का उन्माद और कपोल पर कलोल करती चिखरी लट, मादक रमणी रूप को मूर्ति कर देती हैं और 'अँग अँग'

से उटती हुई 'द्युति की तरंगें उसे रूप की कलना ही बना देती हैं। इस रूप-माधुरी की मिठास ही वियोगी के करुण जीवन की मधुरिमा है। नहीं तो प्रिय के अन्याय और अपनी शोचनीय दशा की चिन्तना में डूबे रहने की भी क्या कोई सीमा हो सकती है ? इसी रूप-मधु के सहारे वह इस कटु वियोगी जीवन की उदासी को पीता रहता है।

उसकी वियोग-चिन्तना की दिशाएँ अनन्त हैं। वह कभी सोचता है कि प्रिय ने तोड़ने की बात सोच कर भी इस नेह को क्यों जोड़ा —

मन माहि जो तोरन हं, तौ कहौ विसवासी सनेह क्यों जोरत है ?

और कभी उस प्रियतम को अधिक जैसा निर्दय समझने लगता है—

अधिक अधिक तैं सुजान ! रीति रावरी है।

कपट-चुगो दै फिरि निपट करौ बुरी ॥

सूर की गोपियाँ भी इसी तरह सोचती हैं कि—

प्रीति करि दान्ही गरे छुरी ।

जैसे अधिक चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी ॥

घनानन्द ने इन गोपियों की तरह ही मेघ और पवन पर दूतत्व भी आरोपित किया है। पर इस दूतत्व में कवि प्रियतम को आने का आमन्त्रण नहीं भेजता, केवल अपने करुणा भरे हृदय के उच्छ्वासों को ही उन तक पहुँचाने की अभिलाषा करता है। 'परजन्य' की सार्थकता पर बल देकर वह मेघ की परोपकारी वृत्ति की सराहना करता हुआ कहता है—

पर कारज देह कौ धारै फिरौ। परजन्य जथारथ हूँ दरसौ ॥

×

×

×

कवहूँ वा विसासी सुजान के अँगन मो अँतुआनि कौ लै बरसौ ।

इस सर्वे में कितनी अधिक करुणा है, कहने की आवश्यकता नहीं। महाकवि कालिदास के निर्वासित यक्ष ने भी मेघ को दूत बनाकर भेजा था। कालिदास के 'मेघदूत' की छाया घनानन्द के इस कवित्त में भले हो, पर पात्र और वक्तव्य-वस्तु के एक होते हुए भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। 'पर काजहिं देह कौ धारै फिरौ' सबैया को कालिदास के 'सतताना त्वमसि शरणं तत्प्रयोद

प्रियायाः\* वाले श्लोक से प्रेरणा भले हो मिली हो, परन्तु उसका निवेदन घनानन्द का अपना निवेदन है। 'कवहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो आँ सुआनि कौँ लै बरमो' पक्ति में अमोम करुणा-सागर हिलोर मारता जान पड़ता है। निराश प्रेमी और कर ही क्या सकता था ? जब स्वयं सुजान ने आना अस्वीकार कर दिया तो उसे बुलाने के प्रयत्न व्यर्थ थे। कालिदान के यक्ष की भोंति पूरा वर्ष व्यतीत होने पर पुनर्मिलन का यहाँ अवकाश ही न था। यक्ष की विरहार्वाध निश्चित था, घनानन्द की अनिश्चित। यक्ष के मन में तुल्यानुराग-जन्य मिलनात्कण्ठा से पुलकित अनेक मधुर भावनाएँ थी, घनानन्द के मन में प्रिय की उदासीनता से उत्पन्न दुःख का नीरव हाहाकार था परिणामतः यक्ष अपने सदेश को शीघ्र से शाघ्र भेजने को आकुल था और घनानन्द के मन में उस आकुलता का लेश भी न था। यक्ष सदेश भेज कर विरहिणी को धैर्य देने को उत्सुक था, घनानन्द विश्वासघाती सुजान के मन में दया का अकुर उत्पन्न करने के अभिलाषी थे। इसा लिए घनानन्द 'परजन्य' स कहते हैं कि तुम मेरी भी पीड़ा को हृदय से स्पश कर लो और 'कवहूँ' अर्थात् जब कभी भी अवसर मिले, मेरा सदेश नहीं बल्कि उस विश्वासघाती के विरह में बहते हुए इन आँसुओं को उसके प्राण में बरसा दो। शाद इनको देख कर ही उसका हृदय मेरी ओर कुछ फिर जाय।

इसी प्रकार 'बीर पान' से विरही प्रार्थना करता है—

विरह बिथाहि मूरि, आँखिन में राखौँ पूरि,  
धूरि तिन पाँयनि की हा हा नेकु आनि दै ।

कितने दैन्य भाव से परिपूर्ण प्रार्थना है ? पग-धूलि की याचना में और उसे आँखों में रख लेने की कामना में सयोग-भावना का पूर्ण आतिशय यहाँ व्यञ्जित है।

\* सतप्ताना त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः ।

सदेश मे हर धनपति क्रोध विश्लेषितस्य ॥

गतव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम् ।

वाह्योद्यान स्थिर हरशिरश्चन्द्रिकाधौत हर्म्या ॥ —मेघदूत

घनानन्द के इन सदेशों की व्याख्या से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उनका प्रेम अत्यन्त गंभीर था। प्रेम की एकनिष्ठता के कारण उनका विरह-वर्णन हृदय पर गहरा प्रभाव डालता है। घनानन्द के पूरे साहित्य को पढ़ लेने पर प्रतीत होता है कि वे बड़े धीर, शान्त, मौनान्ध्यासी एवं शोकाकुल मुद्रा में रहने वाले भावुक प्रणयी थे। उनमें चुहल की वृत्ति का अभाव सा प्रतीत होता है। इसीलिए वहाँ सूरदास की गोपिकाएँ विरह-काल में कृष्ण के न आने पर कुब्जा आदि को लेकर अनेक अनुरजक कारणों की उद्भावनाएँ करती हैं, वहाँ घनानन्द का कवि गंभीरता का पल्ला पकड़े हुए इस विषय में प्रायः मौन रहता है। केवल एक या दो स्थलों पर ही वह—

| कान्ह परे बहुतायत में, अकिलैन की वेदनि जानौ कहा तुम ।”आदि | ✓

कह कर चुप हो जाता है। यह विरही कवि अपने पल-मल का विरह-निवेदन करता है, अपनी कृष्ण दशा का उल्लेख करता है, परन्तु प्रियतम को कोई ले आए यह कहीं नहीं कहता। हों प्रियतम को निष्ठुर, निर्दयी, कठोर, विसासी, अमोही आदि विशेषणों से विभूषित अवश्य करता है—

—“मए अति निठुर मिटाय पहिचान डारी,

हमें जक लागी याही दुख हाय हाय है ॥

× × ×

महा निरदई, दई कैसे के विवाऊँ जीव,

वेदन की बड़वारि कहाँ लों दुराहए ।”

× × ×

“हाय निरदई कौँ हमारी सुधि कैसे आई,

कौन विधि दीनी पाती दीन जानि के मनौ ।”

— × × ×

“आतुर न होहु नैकु फैट छोरि बैठो,

मोहि वा विसासी काँ हे व्योरो वृम्भियो घनौ ।”

इन मन के जोभ से भरे हुए विशेषणों से सम्बोधित करके प्रिय से कहे गए पद ही घनानन्द की सर्व श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। अपने प्रेम की एकनिष्ठता के पूर्ण



विश्वास से भरे भावों से अतिरञ्जित एवं प्रिय की उदासीनता से उत्पन्न विषाद की गहन छाया से आवृत इन छन्दों में जो उपालम्भ वर्णित हैं, उनकी अपनी कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं। आत्माभिव्यक्ति का गुण इन छन्दों का प्रधान गुण है। आत्माभिव्यक्ति के साथ ही साथ आत्म-निरीक्षण एवं अनुभूति की तीव्रता का भी इनमें योग है। घनानन्द जी अपने हृदय में उठने वाली भावनाओं के तीव्र सघर्ष को उत्तम पुरुष में अपने प्रिय से व्यक्त करते हैं। इसी से आत्म-निवेदन की इस 'मै' शैली का प्रयोग उनके काव्य में बहुत मिलता है। उनकी इस आत्म-निवेदन की शैली को और अभी तक उपलब्ध उनके जीवन से सम्बन्धित किंवदन्तियों को, यदि एक साथ मिलाकर देखा जाय तो उनका समस्त काव्य कवि का आत्म-निवेदन ही प्रतीत होगा। एक पद उदाहरण के रूप में लीजिए—

‘विष लै विसारथौ तन, कै विसासी आपचारथौ ।  
जान्यो हुतौ मन ! तैं सनेह कछु खेल सो ॥  
अब ताकी ज्वाल में पजारिबो रे भली भाति ।  
नीके आहि, असह-उदेग-दुख सेल सो ॥  
गए उड़ि तुरत पखेरु लों सकल सुख ।  
परथो आय औचक वियोग बैरी डेल सो ॥  
रुचि ही के राजा जान प्यारे यों अनन्द घन ।  
होत कहा हेरें रक ! मान लीनौ मेल सो ॥’

प्रिय ने एक बार प्रेमी की ओर देख लिया बस उसने समझ लिया मेरी अभिलाषा पूरी हो गई। वह अपना सब कुछ उसे समर्पित कर बैठा, उसके मन ने उसे धोखे में डाल दिया। वह समझ ही न पाया कि इस ‘हेरने’ में क्या रहस्य है ? प्रेम का प्रतिदान उसे न मिल सका। अतः खिन्नमना प्रणयों के मन को दिए गए उक्त ‘ताइने’ में कितनी मार्मिकता है ! विश्वास-घाती मन की मनमानी के प्रति कैसा तीव्र रोष है !

इस प्रकार जब प्रेमी को अपने आपको बुरा-भला कहने पर भी सतीय

नहीं होता तो वह सोच उठता है कि प्रिय की उदासीनता का कारण क्या है ? पहले तो उनकी ऐसी आदत थी नहीं, पर पता नहीं—

‘कितकों ढरिगो वह ढार अहो जिहि मोतन ओखिन दोरत हे ।

अरसानि गही उहि बानि कछु सरसानि सों आनि निहोरत हे ॥’

शायद उस ‘सरस बानि’ ने अब आलस्य अथवा रूढ़ता ग्रहण करली है ।

परन्तु प्रेमी का यह विश्वास भी बहुत देर तक नहीं टिक पाता । वह अपने को दोषी ठहराने लगता है और आगे चल कर यह इच्छा इतना प्रबल रूप धारण कर लेती है, अपने को ही दोषी स्वीकार करने की भावना इतनी बलवती हो उठती है, कि प्रिय पर लगाए गए दोष बहुत कम महत्त्व वाले हो जाते हैं । वही प्रेमी जो सुजान की रीति को अधिक से भी बुरी बतलाता था । अब इस उदारतापूर्ण चिन्ता को व्यक्त करता है—

मन भायो वियोग में जारिबो जो, तौ तिहारो सों तीकें जरैं औ भरैं ।

पै तुम्हें मत कोक कहै हित हीन, सु या दुख बीच अमीच मरैं ॥

‘प्रियतम ! यदि तुम्हें वियोग में जलाना ही अच्छा लगता है तो मुझे भी कोई आपत्ति नहीं । तुम्हारी शपथ खाकर कहता हूँ मैं उस वियोग में जलने को और इसी प्रकार अपने जीवन को विताने को तैयार हूँ । किन्तु मेरी इस अवस्था को देखकर कोई तुम्हें ‘हितहीन’ कहीं न कह दे, यही दुख मुझे बिना मृत्यु के मारे डालता है ।’ फिर अन्त में यह प्रणयी प्रिय की मंगल-कामना करने लगता है । उसे विश्वास हो जाता है कि मेरे बाँट में उसे याद करना पड़ा है और उसके भाग में मुझे विस्मृत कर देना । फिर उपालभ देने की गुञ्जायश ही नहीं रह जाती । जिसके बाँट में जो पड़ा है वह उससे कार्य ले रहा है । इसीलिए वह प्रणयी कहता है कि अब मुझे सब कुछ शिरोधार्य है । तुम्हें जो रुचे वह करो, मुझे कोई आपत्ति नहीं । हाँ ! मैं इतना भर कहना चाहता हूँ कि मैं आपकी ही चर्चा करके जीवित रहता हूँ । तुम्हें किसी वस्तु की चाह नहीं, पर मैं तुम्हारी निरन्तर मंगल-कामना की चाह करता हूँ—

इत बोट परी सुधि रावरे, भूलनि कैसे उगाहनो दीजिए जू।  
 अब तो सब सीस चढ़ाइ लई, जु कछू मन भाइ सो कीजिए जू॥  
 घन आनंद जीवन प्राण सुजान । तिहारिये बातनि जीजिए जू।  
 नित नीके रहो तुम्हें चाइ कहा, पै असीस हमारीयो लीजिए जू॥  
 वह आगे चल कर कवि रसखानि की भौंति स्मय अपने मन को सिखाने  
 लगता है:—

“काहे कौं सोच मरै जियरा, परी तोहि कहा विधि बातनि की है ।

पै घन आनंद स्याम सुजान, सम्हारि तू चातकि ज्यों सुख बी है ॥

×

×

×

×

नाकी कृपा नित छांय रही, दुख ताप तें बौरे बचाय ही ली है ।”

इस आत्म-प्रबोध में कितनी अनुभूति व्यजित है !

प्रकृति के विरहोद्दीपनकारी रूप का भी चित्रण घनानन्द के काव्य में अनुभूति के साथ हुआ है। संस्कृत साहित्य में प्रकृति का आलबन रूप में चित्रण पर्याप्त मात्रा में हुआ, परन्तु हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ काल से ही प्रकृति के प्रति ऐसा मुक्त स्नेह काव्य में लक्षित नहीं हुआ। यहाँ वह मानव-मन की आकाँक्षाओं की सहचरी बन कर ही अ कित हुई। घनानन्द के प्रकृति-चित्रण में भी यही बात प्रधान है। प्रकृति के साश्लिष्ट चित्रों का यहाँ नितान्त अभाव है। उनका प्रकृति-वर्णन परम्परा से चले आते हुए उद्दीपन प्रकार में ही अधिक है। नैसी स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति उनके भाव-क्षेत्र में दिखाई पड़ती है प्रकृति वर्णन में वैसी नहीं। वे अन्तःमुखी (Introvert) वृत्ति के जीव थे और इसी लिए उनका प्रकृति वर्णन भी प्रकृति के बाह्य दृश्य-परक श्लिष्ट चित्रों की अपेक्षा विरही की हृदय-दशा का ही व्यञ्जक अधिक है। रात्रि, वर्षा, वसन्त, पतझर, चानक, कोकिला, मेघ आदि का उल्लेख अतृप्त से हुआ है, परन्तु उद्दीपन के रूप में ही।

विरही को रात्रि नागिन से बढ कर भयकर, विषमयी, पापिन, वैरिन तथा रसने वाली प्रतीत होती है—

ॐ काहे का सोच करे रसखानि, कहा करिहै रविनन्द बिचारो । आदि

“पापिनि डरारी भारो सौपिनि निशा विचारी,

बैरिन अनोखी मोहि डाहन डसति है ।

वर्षा की सभी बातें विरही के शरीर में मिल जाती हैं । सूर्य-रूपी विरह से व्योम रूपी घट तप्त हो जाता है । अकेली होने से वज्र पर बिजली सी चमकती रहती है । मानस-सागर से दृग-मेघ भर कर उठते हैं और मुक्त होकर दिन रात बरसते रहते हैं । अतः विरही के लिए सदा ही स्वप्न बना रहता है । दृष्टि रूपी प्रिय की बैठक में वरौनिया शूलती की भाति टपकती रहती हैं—

“विरहा-रवि सौ घट व्योम तन्यो, विजुगे सी खिबैं इकली छतियों ।

हिय सागर से दृग मेघ भरे उधरें वरसैं दिन औ रतियों ॥

×

×

×

×

नित सावन दीठि सु बैठक में टपकैं बरनी तिहि औलतियों ।

सावन का आना देखकर विरहिणी के मन में मन-भावन के आने की उमंग विशेष रूप से बढ़ जाती है । परन्तु विधि वाम था, उसने प्रिय द्वारा सँभाल के स्थान पर ‘भूल’ लिख दी है । ‘जिस समय मेरी सँभाल होनी चाहिए; उसी समय प्रियतम मुझे भूल गए, जिसके शोक के कारण अब मुझे शरीर पर पड़ने वाली शीतल वूँदें अ गों को जलाने वाली लगती हैं । यह कितनी उल्टी बात है ! परन्तु अपने पापों के कारण सब कुछ सहन हो करना पड़ेगा । हवा से अग्नि का जलना तो सुना भर था, परन्तु वियोगावस्था में, मैंने पानी से भी आग लगती अपनी आँखों से देखली’—

“सावन-आवन हेरि सखी ! मन भावन आवन चोप बिसेखी ।

×

×

×

×

बूँद लगैं सब अ ग दगैं उलटी गति आपने पापनि पेखी ।  
पौन सौ जागति आगि सुनी ही पानी ते लागति आँखनि देखी ।”

विरही वूँदों की शीतल टाहकता में जल ही रहा था कि चातक की पुकार अचानक आधी रात के समय सुनाई पड़ी, जो बिना ही कमान के बाण के समान तीखे बोल द्वारा कानों के मार्ग से होकर हृदय को भेद देने में समर्थ है । विरही बेचारा क्या करे ! वे आनंद देने वाले मेघ रूपी सुजान जाकर अन्य देश में

प्रपञ्च फैला उठे और उनके अभाव में पातकी चातक उसके पीछे पड़ कर रह गया है—

“वैरी वियोग की हूकनि जास्त कूकि उठे अचकॉ अधरा तक ।  
वेधत प्रान बिना ही कमान सु बान से बोल मो कान है घातक ।

×                      ×                      ×                      ;                      ×

वै घन आनँद जाइ छए उत पैडें परयौ इत पातकी चातक ।”

अकेला चातक ही नहीं यहाँ तो कोकिला, कलापी, घन आदि सभी विरही को पीड़ा पहुँचाने वाले हैं । ‘पता नहीं कोयल कहा का बैर निकाल रही है, कूक कूककर कलेजा ही निकाले ले रही है । पापी कलापी दिन रात पीछे ही पड़े रहते हैं, चातक घातक होकर कान फोड़ता रहता है । जब तक मन-भावन, विनोद-बरसावन नहीं आते, तब तक बजमारा घन गरज गरज कर कान फोड़ता रहे इसकी अनुमति विरही स्वयं दे देता है’—

‘कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर कादति री ,  
कूकि कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै ॥  
पैदे परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यों ही ।  
चातक ! घातक त्यों ही तुहू कान फोरि लै ॥

×                      ×                      ×

जौ लों करैं आवन विनोद बरसावन वे ,  
तौ लाँ रे डरारे बजमारे घन घोरि लै ॥

सर्वत्र विरही को अपने हृदय की ही प्रतिच्छाया दिखाई पड़ती है । पलाश के फूले हुए फूल उसने देखे और उनमें दाहकता का अनुभव करके वह कड़ उठा ‘सुजान ! आपके वियोग से हृदय में जो आग लग गई है वही पलाश के फूले हुए फूल हैं । मेरी अभिलाषा रूपी पत्तियों झड़ गई हैं और उच्छ्वास रूपी डाल में हृदय-वेदना व्यक्त हो उठी है । उच्छ्वास निकलने पर हृदय की वेदना व्यक्त हो जाती है । इस प्रकार एक ही समय में शिशिर और वसन्त ये दोनों ही मेरे यहाँ आ गए हैं’—

‘किमुक-पुञ्ज से फूलि रहे सुलगी उर दौजु वियोग तिहारे ।

x

x

x

है अभिलाषनि-ताप-निताप कहे हिय-सूल उसासनि डारे ।

हैं पतभार बसन्त दुहैं धन आनँद एक ही चार हमारे ॥’

कैसा विलक्षण परिवर्तन हो गया कि सुधा से विष गिरता है, फूलों से कण्टक उत्पन्न हो जाते हैं, चन्द्र अन्धकार हो अन्धकार (दुःख ही दुःख) उगलता है । पानी से शीतल होने के स्थान पर शरीर जलता है, राग गाने से गला बिगड़ता है—

“सुधा तैं सवत विस, फूलते जमत सूल,  
तम उगलत चन्द मई नईं रीति है ।  
जल नारै अ ग और राग करै सुर-भग,  
संपति विपति पारै बड़ी विपरीत है ॥”

सभी कुछ विरही के लिए ‘विपरीत’ हो जाता है । पर कभी कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि प्रकृति के सारे व्यापार विरही के प्रति सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं । ‘विपाद में भर कर व्याकुल हुए विरही की ओर देख कर, उसके विपाद की ज्वाल से सतप्त हो कर ही मानों, बिजली इधर उधर चमका करती है । प्रिय के लिए प्रेम की प्रतिज्ञा से पूर्ण उसकी पुकारों को ग्रहण करके चातक दुखी होकर नित्य पिउ करता रहता है । प्रेमी की व्याकुलता से अस्थिर दशा को देख कर दुःख से भरा हुआ वायु, वन-वीथियों में शब्दायमान होता रहता है और मेघों से जो ये बूँदें गिरती हैं, वे वस्तुतः बूँदें नहीं बल्कि विरही को देख कर मेघ अश्रु-वर्षा किया करता है—

विकल विपाद भरे ताही की तरफ तकि,  
दामिनि हू लहक षट्कियों जरयो करै ।

जीवन-अधार-पन-पूरित पुकारनि सों  
आरत पपीहा नित कूकनि करयो करै ।

अधिर उदेश-गति देखि कै अनन्द धन,  
पीन विडख्यो सो वन धीधिन रख्यो करै ।

बूँदें न परति मेरे जान जान प्यारी! तेरे,  
विरही कों हेरि मेघ आसुनि भग्यौ करै ॥

अतः जहाँ तक घनानन्द जी के प्रकृति-वर्णन का सम्बन्ध है, वे रीतिकाल के अन्य कवियों की भांति ही उसका प्रेमी और प्रेमिका की परिस्थितियों के अनुसार उद्दीपन रूप में वर्णन करते हैं। उनका बाह्य प्रकृति की ओर उतना ध्यान नहीं था जितना भीतर की प्रकृति की ओर। फिर भी ऊपर जिन प्रकृति सम्बन्धी छंदों का उल्लेख किया गया है उनमें उनकी सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है। उन्होंने प्रकृति द्वारा हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का ही चित्रण किया है। प्रकृति में नारी या मानव का सौन्दर्य देखने की चेष्टा उन्होंने नहीं की। विरह-जन्य पीड़ा के आवेग में बही हुई अविरल अश्रु-उर्मियों से उन्होंने प्रकृति को ढोया है। प्रकृति के सौन्दर्य में प्रेम की भावनाओं का निमज्जन उन्होंने नहीं किया। प्रकृति वर्णन में एक सुनिश्चित परम्परा का अनुगमन करने पर भी घनानन्द के प्रकृति-चित्रण में अनुभूतिमयता विशेष है, कारी परिपाटी का पालन ही वहाँ नहीं है।

वियोगावस्था में विरही का समय किस प्रकार व्यतीत होता है इसका विस्तृत वर्णन भी घनानन्द के विरह काव्य का महत्त्व-पूर्ण अंग है। 'विरहिणी प्रियतम को प्रतीक्षा में प्रातःकाल से सायंकाल तक बिना थके कानन की ओर निरन्तर देखती रहती है और दिन समाप्त हो जाने पर सायंकाल से लेकर प्रातःकाल तक आँखों से आकाश में स्थित तारा-गणों को लगातार ताकती रहती है। उनकी ओर ताकना छोड़ती ही नहीं है—

१. भोर ते सौँझ लों कानन ओर, निहारति बावरी नेकु न हारति ।  
२. सौँझ ते भोर लों तारनि ताकिबो, तारनि सौँ इक तार न टारति ॥”

‘आँख निरन्तर बहते रहते हैं और मन मोहन को देखने की अभिलाषा भी बराबर बनी रहती है। उसके हृदय में उठने वाली हूक की ताप से उच्छ्वास तक तब जाते हैं और उद्देगों की भाप से तो सारा शरीर ही उबल जाता है। उसके प्राण गर्मी से व्याकुल रहते हैं और वे कहीं भी किसी भी प्रकार धैर्य धारण नहीं कर पाते। नेत्र झड़ी लगा कर विचित्र वर्ण

करते रहते हैं, और सुजान के मुख-चन्द्र के अभाव में सदा अमावस्या ही अमावस्या प्रेमी को दिखाई पड़ती है—

“अन्तर-त्राँच उसाँस तचै अति अंग उसीजै उदेग की आवस ।  
 क्यों कहलाय मसोसनि ऊमस क्यों हूँ कहुँ सो घरै नहि ध्यावस ॥  
 नैनहुँ धार दिये घरसँ घन आनँद छाई अनोखिय पावस ।  
 जीवन मूरति जान को आनन, है बिन हेरें सदा ही अमावस ॥”

‘संसार तो बदला हुआ प्रतीत होता ही है, प्राण भी तरस तरस कर ओखों में आ जाते हैं। विरह-वेदना की प्रचण्डता से हृदय क्षत-विक्षत हो जाता है। प्राण चक्कर काट काट कर मरणासन्न हो जाते हैं। ओखें भरने लगीं भरतीं रहतीं हैं।’

‘उनको कुछ पता ही नहीं चलता है कि दुःख की मारी हुई ये ओखें खुलीं हैं या मुँदी हैं। जागने पर भी वे मोती सी मालूम पड़तीं हैं।’ वे खुली तो रहनीं हैं पर प्रियतम के ध्यान में किसी चीज को देखतीं ही नहीं, अतः सोई हुई प्रतीत होतीं हैं—

“न खुली मुँदी जानि परै कछु ये दुखदाई जगे पर सोवत हैं ।”

‘विधाता ने न जाने विरही के रहने का ढग किम विलक्षणता से बनाया है कि उसमें बिना प्राणों का जीना पड़ता है और बिना मृत्यु के मरना पड़ता है—

‘जीवन मरन जीव मीचु बिना बन्यौ आयः  
 हाय कौन विधि रची नेही की रहनि है ।’

उसके हृदय में उद्वेग रहता है और ओखों में अश्रु-प्रवाह। उसे प्रेम में मीगना भी पड़ता है और जलना भी। न वह सा पाता है और न जग पाता है। अपने आप में ही वह खोया खोया रहता है। प्रियतम यद्यपि निरन्तर उसके हृदय में रहते हैं पर फिर भी विरह की दशा मूक हो कर अपना कहानी कहती ही रहती है—



“अ तर उदेग-टाह ओखनि प्रवाह आसू,  
 देखी अटपटी चाह भोजनि दहनि है ।  
 सोइयो न जागिबो हो, हँसिबो न रोइबो हू,  
 खोइ खोइ आपु ही मे चेटक लहनि है ।  
 जानि प्यारे प्राननि बसत पै अनटघन,  
 विरह-विषम दशा मूक लौ कहनि है ।”

विरह का शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका वर्णन कवियों ने बड़ी विशदता के साथ किया है। विरह काल में विगही या विरहिणी के शरीर की नया अवस्था हो जाती है, इसका घनानन्द ने भावात्मक पद्धति से सुन्दर चित्रण किया है। सारे शरीर में नेत्रों की अवस्था सन अ गों से अधिक दमनीय हो जाती है, यद्यपि प्राण, जिह्वा, कान, मुख, अघर आदि भी कम त्रस्त नहीं होते। ये नेत्र ही प्रेमियों की हृदयों के मिलाने वाले और एक से दूसरे तक उनके गुप्त भावों को ले जाने के प्रधान साधन होते हैं। अतः विरहावस्था में इनकी ही सबसे बुरी अवस्था होती है। उलटी सीधी भी इन्हें ही सबसे अधिक सुनती पड़ती हैं। ‘प्रियतम जहाँ जहाँ से जाते हैं वहाँ वहाँ नेत्रों पर ही पैर रख कर जाते हैं। ये भिचारे उनके जाने को निरन्तर एक टक देखते रहते हैं—

“जहाँ तैं पधारे मेरे नैननि ही पाँव धारे ।”

सयोग काल में ये प्रिय की छवि का पान करते करते तृप्त नहीं होते, परन्तु वियोगावस्था में यही लोचन शोक की तीव्रता के कारण स्वयं जलते से रहते हैं—

“तब तो छवि पीवत जीवत हे ग्रब सोचन लोचन जात नरे ।”

उन्हें बड़ी बुरी आदत पड़ जाती है—

“अँ वियों दुखियानि कुबानि परी न कहूँ लगे कौन घरी सुलगी ।”

उनके लिए कोई अन्य आश्रय रह ही नहीं जाता। प्रियतम के रूप की टुट्टाई उनमें फिर जाती है—

“दीठि को और कहे नहि ठौर, फिरी दग रावरे रूप की दोही ।”

रूप सुधा का पान करतीं करतीं वे कभी अघाती नहीं—

‘त्यों इन आँखिन बानि अनौखि अघानि कयहुँ नहि आन तिहारियै’

परन्तु वियोग काल में इनकी बहुत दुर्दशा हो जाती है। प्रिय के दूर रहने के कारण उनके दर्शन की भूखी आँखों को लघन करना पड़ता है। उनकी दशा अमाध्य हो जाती है, क्योंकि उस विषम भ्रमक रोग के उत्पन्न हो जाने पर जिसमें और अधिक भाजन की आवश्यकता होती है, उन्हें बिल्कुल उपवास करने को विवश होना पड़ता है। विरही इसी बात को लेकर प्रिय से कहता है—

‘देखियै दमा असाध आँखियाँ निपेटिन की,  
भसमी चिथा पै नित लघन करति हैं ।’

आँखों में अनोखी पावस आ जाती है। वे झड़ी लगा कर निरंतर बरसती ही रहती हैं—

‘नैनउ धारि दियें बरसैं घन आनँद छाडैं अनोखिय पावस ।’

वे पीर की भीर में अधीर हो जाती हैं और भरने की तरह बरसतों लगती हैं—

‘पीर की भीर अधीर भई बरसैं आँखियाँ नित ही भरना सी ।’

जिन्हें वे नित्य अच्छी भोगति देखा करती थीं, उनके लिए उन्हें अब रोना पड़ता है—

‘जिन कौं नित नीके निहारति हों तिनको आँखियाँ अब रोवति हैं ।’

इसी प्रकार प्राणों की स्थिति भी वही दयनीय हो जाती है। वे पीड़ा के प्रकोप के असह्य हो जाने के कारण शरीर से बाहर निकलने को उतावले रहते हैं। बस निकलते इसी लिए नहीं हैं कि आशा का पाश उनके गर्ले में पड़ा रहता है। प्रिय के दर्शनों के लिए वे तबस तबस कर कभी नेत्रों में आ जाते हैं कभी भवनों में। मरणासन्न होकर दिन रात लालसा से ही आवृत बने रहते हैं।

दुःख का वर्णन करने के लिए जिह्वा मूक हो जाती है—

‘दुःख को बखान करिवे कौं रसना कै होत ।’

कान सुनना भी छोड़ देते हैं। साराश यह कि सारा शरीर व्याकुल, विदग्ध और व्रस्त हो जाता है। विरही अकुलाहट के हाथों पड़ जाता है, दिन रात उसे आराम नहीं मिलता, क्षण भर के लिए भी नहीं रुकती बहलता। गम्भीर स्नेह-रूपी नदी में उसके सारे प्रयत्न 'कागद की नाव' हो जाते हैं और यह सभी विरह-विष की लहरी का परिणाम होता है—

“अकुलानि के पानि परयो दिन राति सु ज्यो छिन कौं न कहूँ वहरै।

×

×

×

×

भए कागद नाव उपाय सबै धन आनँद नेह-नदी गहरै।

बिन जान सजीवन कौन हरै सजनी। विरहा विष की लहरै।”

इस प्रकार अन्त में घनानन्द के विरह निवेदन के विषय में यही कहा जा सकता है कि उसमें उलाहना देने का प्रवृत्ति प्रधान है, भाव भेद स्वरूप को उन्होंने भली भाँति पहचाना है और अन्तर्दशाओं का उद्घाटन सूक्ष्मता और प्रौढ़ता के साथ किया है। उनकी प्रेम की अनुभूति अत्यन्त व्यापक एवं गम्भीर थी। आत्माभिव्यक्ति उनके काव्य का नित्य स्वरूप थी। प्रिय के प्रति सीधे सम्बोधन के रूप में अधिकांश उपाजम्भ के छन्द उन्होंने कहे हैं। इन छन्दों की बहुलता के विचार से यदि कोई चाहे तो उनका सम्बन्ध कवि की जीवन कथा से भी स्थापित कर सकता है। वास्तव प्रकृति की रूप-माधुरी पर वे अधिक नहीं रभे हैं। वह उनकी विरह-दशा की उद्घोषिका बन कर ही आई है। अपनी वियोग-दशा का विस्तृत निवेदन उन्होंने तन्मयता और अनुभूति के साथ किया है और 'वियागी के नयनों' की करुणा सचमुच बरसात बन कर उनके काव्य में बरसी है। उनके प्रेमी जीवन का एकमात्र माधुर्य प्रियतम की रूप-माधुरी में है, उसका अनेकरूप विषाद उनके सारे व्यक्तित्व में समा गया है।

# “सनेह को मारग”

‘सवैया

ति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप वाँक नहीं ।  
तहाँ साँचे चलै तजि आपनपौ मरुकरै कपटी जे निसाँक नहीं ॥  
घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक ते दूसरो आँक नहीं ।  
तुम कौन घाँ पाटी पढ़ेहौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥१

प्रेम में सरल या सीधा होना आवश्यक है, वहाँ चालाकी और कुटिलता का कोई काम नहीं। अपने प्रेम की इसी विशेषता की ओर संकेत हुए घनानंद जी प्रियतम सुजान के द्वारा की गई चालाकी पर खेद प्रकट करते हुए उलाहना देते हैं—

प्रेम का मार्ग अत्यन्त सीधा है जहाँ चतुराई और कुटिलता (अथवा कपट-चतुराई) अल्प मात्रा में भी नहीं है। उस मार्ग पर सच्चे प्रेमी अपनत्व (अहंभाव) को त्याग कर (निःसंकोच) चलते रहते हैं तथा जो निःशंक नहीं हैं और (प्रेम में) कपट रखने वाले हैं वे हिचकते हैं।

हे अत्यन्त आनंद देने वाले प्रियतम सुजान ! सुनो मेरे हृदय में एक से दूसरा आँक नहीं बना है। उस पर तुम्हारे प्रति जो प्रेम की एक रेखा खिंच गई उसके अतिरिक्त दूसरी रेखा खिंच नहीं सकती। (अर्थात् मेरे हृदय में तुम्हारे अतिरिक्त और किसी का प्रेम नहीं है) परन्तु तुमने, समझ में नहीं आता, कैसी पट्टी पढ़ी है (न जाने कैसी शिक्षा पाई है) जो मेरे मन को तो लेते हो (मन को हर लेते हो) किन्तु (प्रतिदान में ; मन के बदले में) छटाँक भर (थोड़ी चीज) भी नहीं देते हो। विशेष—(१) इस सवैया की अन्तिम पंक्ति में ‘मन लेकर छटाँक न देना’ मुहावरा बहुत ही मार्मिक एवं चमत्कार-युक्त है। प्रेमी ने ‘मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं’ कह कर अपने हृदय की तीव्र व्याकुलता, मलाल और प्रेम की विषमता आदि बहुत कुछ इस मुहावरे द्वारा व्यक्त कर दिया है। प्रिय प्रेमी से मन ले लेता है परन्तु एक छटाँक भी नहीं देता। एक ष्टे ६४० अथवा ६४०-वाँ भाग भी नहीं देता है। तात्पर्य यह है कि प्रेमी तो स्नेह भरपूर करता है किन्तु प्रिय उसकी ओर एकदम

ध्यान नहीं देता। श्लेष से मन का अर्थ हृदय लेने पर तथा 'छट्योँक भी देने' के व्यंग्यार्थ को ही ग्रहण करने पर उसका अर्थ प्रतिदान में तनि भी न देना हो जायगा। किन्तु यदि "पै देहु छट्योँक नहीं" का सीधा र अर्थ 'छुटा-अक' (शोभा की भल्लक) ही लिया जाय तो भी पंक्ति का भाव सौंद अल्लुण बना रहता है और अभिप्रेत अर्थ को वहन करने में वह पूर्ण सम है। मिश्र जी ने 'छट्योँक' को उलट कर 'कटाछ' (कटाछ) पढ़ने की युक्ति सुभाई है।

(२)—एक से दूसरा अँक न होना (एक तैं दूसरो अँक नहीं,) कौन सी पट्टी पढ़ना (कौन धौं पाटी पढे हौं), छट्योँक न देना (देहु छट्योँक नहीं) आदि कई सुन्दर मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

'मन' श्लिष्ट शब्द है और चतुर्थ पंक्ति में परिवृत्ति अलंकार है।

### सवैया

हीन भएँ जल मीन अघीन, कहा कछु मो अकुलानि—समानै।

नीर-सनेही कों लाय कलक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै ॥

प्रीति की रीति सु क्यों समुझै, जड़ मीत के पानै परे कों प्रमानै।

या मन की जु दसा घनआनंद जीव की जीवन जान ही जानै ॥२॥

प्रस्तुत सवैया में कवि अपने प्रेम की तुलना में मीन के जल-प्रेम को हीन कोटि का बताता हुआ कहता है कि—

मछली जल से हीन (अलग) होने पर (मरने को) विवश हो जाती है (अतः उसकी प्रिय-विछोह को विकलता) मेरे हृदय की आकुलता की क्या कुछ थोड़ी सी भी समता कर सकती है ? अर्थात् नहीं कर सकती है। (क्योंकि मछली) अपने प्रेमी जल को कलक लगाकर (क्योंकि लोग कहते हैं जल के वियोग के कारण वह प्राण त्याग देती है और प्रतिदान में जल कुछ नहीं करता) तथा स्वयं (जल से वियुक्त होने पर जीवन के प्रति) आशा रहित हो (संसार के कष्टों को सहन करने में असमर्थ की भाँति अथवा) कायर बनकर प्राणों का त्याग कर देती है। (और अपने इस प्रकार के कार्यों से वह) अपने प्रिय अचेतन जल (जड़) के हाथ में पड़ने को प्रमाणित करता है। क्योंकि (जड़) जल के वश में पड़ने से ही उसकी उदासीनता के कारण मछली मर जाती है। और इस प्रकार विचार

करने पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वह (मछली) प्रेम की प्रणाली को (भली भाँति) कैसे जान सकती है, अर्थात् नहीं जान सकती है। परन्तु उनका सुजान के प्रति जो स्नेह है उसके लिए घनानंदजी का विश्वास है कि वियोग की दशा में उनके मन की जो अवस्था है उसे उनके प्राणों की भी प्राण सुजान भली भाँति जानती होगी।

इस पूरे सवैया में घनानंद जी सुजान के प्रति अपने प्रेम को जल के प्रति मछली के प्रेम से श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि से मछली का प्रेम-भाजन जल जड़ है और मछली में जल के वियोग को सहन करने की शक्ति का पूर्ण अभाव है। उनके विचार से उनके प्रेम की तुलना मीन के प्रेम से इसलिए और भी नहीं की जा सकती है कि उनकी प्रेमिका जड़ न होकर चेतन है और वे स्वयं वियोग की मर्मांतक पीड़ा सहने में समर्थ हैं। जड़ को न सही चेतन को तो प्रभावित किया ही जा सकता है। फिर दोनों को स्नेह में समता क्या ?

यह पद घनानंद की प्रेम विषयक विचारधारा की विशेषता पर प्रकाश डालता है। रीतिकाल की प्रेम की सामान्य परिभाषा “विछुरन मीन की औ मिलन पतंग की” कही जा सकती है। इसे मान्य परिभाषा स्वीकार कर लेने पर “जो लहिये लँग सजन तौ धरक नरक हू की न ।” आदि रीतिकाल के अन्य कवियों के उत्कृष्ट वासनामय वाक्यांशों का अर्थ आसानी से बुद्धि ग्राही हो जाता है। ये लोग ‘मिलन’ और ‘विछुरन’ दोनों ही अवस्थाओं में प्रेमी प्रेमिकाओं को प्राणोत्सर्ग का महामंत्र सिखाते थे। परन्तु सुफियों की प्रेम पद्धति से प्रभावित घनानंद के अनुसार प्रेम का लक्ष्य यह नहीं है। उनका प्रेम वासना की सकुचित परिधि से उठकर उदात्त रूप ग्रहण कर लेता है जहाँ पर पहुँच कर प्रेमी प्रिय से मिलन आदि की आकांक्षा का परित्याग कर के उसके विरह में ही अपने जीवन को घुला देना चाहता है और उसकी एक मात्र अन्तिम अभिलाषा यही शेष रह जाती है कि चाहे प्रिय लौट कर आए या न आए, उससे पुनर्मिलन हो या न हो, परन्तु उसे कोई व्यथा न व्यापे, वह सुखी रहे—

घन आनंद जीवन प्राण सुजान ! तिहारियै बातनि जीजिये जू ।

नित नीके रहै तुम्हें चाइ कहा पै असीस हमारियै लीजिये जू ॥

इस प्रणय-पथ पर चलता चलता प्रेमी, प्रेम की उस उच्च मनोभूमि पर आ टिकता है जहा प्रिय के प्रेम में व्याकुल प्रेमी प्रिय को खोजता खोजता स्वय अनुभव कर उठता है कि मैं जिसे खोज रहा हूँ वह मैं स्वय हूँ। प्रेमी हृदय की इस तन्मयता या अन्तिम अवस्था में होकर वह हृदय की वही अवस्था हो जाती है जो 'ज्ञान की चरमावस्था में ज्ञाता और ज्ञेय की अथवा भक्ति की चरमावस्था में भक्त और भगवान की'। इसी अवस्था की ओर संकेत करते हुए विहारी ने एक स्थल पर कहा है—

प्रिय के ध्यान गही गही रही वही है नारि ।

आपु आपुही आरसी लै रीकृति रिक्कारि ॥

विद्यापति की निम्न पक्तियों भी इस प्रसंग में दर्शनीय हैं—

“अनुखन माधव माधव रटइत

सुदरि भेल मघाई ।

आपुन भाव सुभावहिं विसरल

आपुन गुन लुबधाई ।”

धनानन्द के प्रेम का मार्ग अत्यन्त सीधा है वहाँ चालाकी और कुटिलता का काम नहीं। जो सीधे और सज्जन है वे अपने आप को खोकर वहाँ चलते हैं परन्तु जो कपटी और निश्शक नहीं वे उस मार्ग पर चलने में भिन्नकते हैं। उनके प्रेम में तन-मन-धन तीनों का पूर्ण समर्पण है। प्रतिदान वे नहीं चाहते परन्तु प्रिय व निगदुरता भी सहन नहीं कर सकते इसीलिए कभी-कभी दया जगाने का उपक्रम भी वे करते हैं।

इस प्रकार रीतिकाल के सामान्य प्रेम से उनके प्रेम की भावभूमि उच्च एवं उदात्त है। प्रेम में मर मिटना उन्हें पसन्द नहीं। अनन्त पीर सहन कर लेने व वे अपूर्व क्षमता रखने से। लौकिक क्षेत्र में सुजान के पीछे वे तबाह होगए, पि भी मरते दम तक सुजान का न तो नाम छोड़ा और न निराश ही हुए अतः “विछुरनि मीन की और मिलनि पतंग की” पक्ति से निकलने वाले अभिप्राय का विरोध उन्होंने कई स्थानों पर किया है। यथा

(१) मेरो जीव तोहि चाहै, तू न तन कौ उमाहै,  
मीन जल कथा है कि या .हूँ तैं विसेखियैं ।

ता विन सो मरै, छूटि परै, जइ कहा दरै,  
भरौ हौं न मरौं जान ! हियै अवरेखियै ।

(२) मरिवो विसराम गनै वह तौ यह वापुरो भीत-तज्यौ तरसै ।  
वह रूप छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै वरसै ।

X X X X

विछुरे मिले मीन-पतंग दसा कहा मो जिय की गति कों परसै ।  
अलंकार-न्यतिरेक, अनुप्रास ।

कवित्त

चातिक चुहल चहुँ ओर चाहे स्वाति ही कों,  
सूरे पन-पूरे जिन्हें विष सम अमी है ।

प्रफुलित होत मान के उदोत कंज-पुंज,  
ता विन विचारनि ही जोति-जाल तमी है ।

चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै अनंद घन,  
प्रीति-रीति विषम सु रोम रोम रमी है ।

| मोहिँ तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आहिँ,  
कहा कछु चंदहिँ चकोरन की कमी है ॥३॥

प्रस्तुत कवित्त में कवि यह दिखाना चाहता है कि शुद्ध स्नेह एकनिष्ठ होता है । अर्थात् जिस किसी से प्रेम हो गया उससे हो गया । हो सकता है प्रिय सर्व-गुण-सम्पन्न हो परन्तु गुणों का तिरोभाव भी प्रेम में बाधक नहीं होता । प्रिय के अवगुण भी प्रणयी के मन को मोहक ही लगते हैं । अधिक क्या, वह उन अवगुणों को अवगुण समझता ही नहीं । साथ ही साथ यदि प्रिय से अधिक आकर्षक अन्य व्यक्तित्व सामने आ जाता है तो भी पूर्व प्रेमियों के प्रेम में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता । शर्त यही है कि प्रेम वास्तविक हो, वह लोलुपता और लोभ की कोटि का न हो ।

यहाँ तीन कवि-प्रसिद्धियों ( चातिक और स्वाति-नज्ज का जल, सूर्य और कमल, चन्द्रमा और चकोर ) को लेकर कवि ने प्रेम की एकनिष्ठता की ओर संकेत किया है ।



प्रथम कवि-प्रसिद्धि चातक और स्वॉति नक्षत्र के जल की है। कहते हैं कि चातक बारह महीने केवल स्वॉति नक्षत्र के लिए पियु-पियु पुकारता है तथा स्वॉति नक्षत्र के जल के अतिरिक्त अन्य किसी जल का पान भी नहीं करता। इसी प्रसिद्धि को लेकर कवि कहता है कि प्रतिज्ञा पूर्ण करने में जो पूरे वीर हैं, ऐसे विनोदी अथवा प्रेम की तन्मयता के कारण मन्तमौला, चातक पत्नी चारों ओर स्वॉति नक्षत्र के जल को चाहते हैं। उसके अभाव में उन्हें अमृत भी दे दिया जाय तो उसे वे 'सूरे-पन पूरे' होने के कारण विष के समान मानते हैं। अर्थात् प्रेमी अपनी अभीप्सित वस्तु से अधिक गुणकारी एवं प्रसिद्ध वस्तु की भी कोई विशेष गिनती नहीं करता। दूसरा उदाहरण और लीजिए। कवि प्रसिद्धि है कि रवि के प्रकाश में कमल खिल जाते हैं और उसके अस्त होते ही सकुचित हो जाते हैं, यद्यपि रात्रि के समय प्रकाश का तिरोभाव नहीं होता है। किन्तु अपना प्रेम ही जो ठहरा। इसी बात को लेकर कवि कहता है कि सूर्य के प्रकाश ( के आने ) से कमलों का समूह खिल जाता है और जब सूर्य का प्रकाश नहीं रहता है, तो उसके अभाव में, विचारे कमलों के लिए ( सूर्य के अतिरिक्त ) अन्य ( चन्द्रमा एवं तारागण आदि के ) प्रकाश-पुञ्ज निरर्थक है वे सभी उनके लिए तमी ( रात्रि ) के समान धूमिल एवं काले अथवा शोक दायक हैं ( शोक का रंग कवि समय में काला माना गया है )। इस प्रकार प्रेमी प्रणयी-मन की एक मात्र भावना का अथवा प्रेम की अनन्यता का उल्लेख करके प्रिय से अपने प्रेम की अनन्यता निवेदित करता है। घनानन्द कहते हैं कि हे प्रियतम सुजान ! तुम मुझे प्यार करो या न करो परन्तु मेरे तो रोम-रोम में अर्थात् पूरे तन में तुम्हारा प्रेम छाया हुआ है। तुम्हारे लिए प्यार करने की यह विषम रीति या एक पत्नीय प्रेम-पद्धति मैंने पूर्णतः अपना ली है। सारांश यह है कि मैं तो तुम को हर प्रकार से प्यार करता हूँ, परन्तु इसकी मुझे चिन्ता नहीं है कि तुम भी मुझे प्यार करते हो या नहीं। तुम मुझे प्यार न करो, मैं तो तुम्हें चाहता ही रहूँगा। क्यों मेरे लिये तो ( इस भूतल पर ) तुम्हीं एक मात्र प्रेम-भाजन हो ( अतः मेरे हृदय में अन्य कोई कैसे आ सकता है ) परन्तु तुम्हारे लिए मेरे जैसे ( मैं जानता हूँ कि ) अनेक चाहने वाले हैं ( जब वस्तु एक है और लेने वाले अनेक हैं तब सबको पूरी-पूरी मिलना अमम्भव है। हो सकता है किसी के घाट में कुछ भी न पड़े इसलिए मैं तुमको चाहता हूँ, अतः तुम भी मुझे

प्रतिदान में चाहो, 'ऐसी इच्छा रखना परले सिरे की मूर्खता होगी। (देखो ! एक पते की बात याद आ गई) क्या चन्द्रमा को चकोरों की कमी है ? उत्तर है, नहीं। अर्थात् प्रिय के प्रेमी बहुत हो सकते हैं पर प्रेमियों के लिए प्रिय एक ही होता है (और जहाँ इसकी उत्पत्ति बात हो वहाँ प्रेम नहीं हो सकता है, रूप-लोभ अथवा अतृप्त वासना की लालसा भले ही हो। जहाँ कोई सुन्दरी देखी कि मन के बन्धन ढीले पड़ गये; इस दरा में वासना ही प्रधान कही जाएगी। प्रेम का उदात्त रूप वहाँ नहीं होगा।)

कवित्त की अन्तिम पक्तियों को निम्न दोहे से मिलाइये:—

“कमलन कौं रवि एक है, रवि कौं कमल अनेक ।  
हमसे तुमकौं बहुत हैं, तुम से हमकौं एक ॥”

सवैया

घेद चकोर की चाह करै, घन आनंद स्वाति पपीहा कौं धावै ।  
स्यौं त्रसरेनि के एन बसै रवि, मीन पै दीन हूँ सागर आवै ।  
मोसौं तुम्हैं सुनौ जान कृपानिधि ! नेह निबाहिबो यौं छवि पावै ।  
ज्यो अपनी रुचि राचि कुबेर सु रकहि लौ निज अंक बसावै ॥४॥

इस सवैया में प्रेमी की दीनता और प्रिय की उदारता और महानता प्रदर्शित की गई है। भक्ति के क्षेत्र में अपने (भक्त के) लघुत्व का तथा भवगान् के महत्त्व का ज्ञान आवश्यक होता है। यही बात इस सवैये में भी है। कवि कहता है कि—

(अन्य प्रियतमों की महानता भी इसी में है कि वे विनम्र होकर, उदारता पूर्वक अपने प्रेमी के प्रति दया-भाव बनाये रहें। चन्द्रमा चकोर से प्रेम करता है, प्रेम करने के लिए ही आकाश में नित्य आता है तथा अत्यन्त आनन्ददायक स्यौंति नक्षत्र की वृंद पपीहा के लिए दौड़ कर, उसकी रक्षा के हेतु, आती है। इसी प्रकार त्रसरेणु जैसे क्षुद्र धूलि-कण के घर पर सूर्य उसे 'सुखी बनाने के लिए निवास करता है अथवा सूर्य अपनी त्रसरेणु नाम की स्त्री को आनन्दित करने के लिए उस के गृह में निवास करता है) और मीन के समीप समुद्र (विनम्र बन कर, उदारतापूर्वक, कोमलता से भर कर) दीन होकर आता है। इसी प्रकार प्रेमी कहता है कि हे (प्रिय) कृपा की (अनन्त) निधि

सुजान ! सुनो, तुम्हारा मुझसे स्नेह करना ऐसी शोभा पाता है ( अर्थात् तुम्हा मेरे प्रति किये गए स्नेह का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है ) जैसे कुत्रे जैसा धनपति अपनी इच्छा से, अपने आप किसी निर्धन पर अनुरक्त होकर उसे अपनी गोद में बिठाकर निहाल कर दे ।

“ज्यों अपनी रुचि

बसावै ।”

इस पक्ति का मूल भाव यह है कि सामान्यतः दो भिन्न स्तर के व्यक्तियों । प्रगाढ़ प्रेम नहीं होता है । यदि कहीं ऐसा संयोग बन भी पड़े तो निम्न स्तर । व्यक्ति को अपना परम सौभाग्य समझना चाहिए । जैसे यदि किसी रक को कुत्रे उठा कर अपनी गोद में ले लें तो उस का बहुत बड़ा सौभाग्य ही होगा ।

विशेष-(१) “चंद चकोर सागर आवै” दृष्टान्त माला

“ज्यों अक बसावै” उदाहरण

(२) वसरैनि (वसरेणु) — धूलि कण को वसरेणु कहते हैं । किसी छेद से होकर जब धूप आती है तो उसमें असंख्य धूलिकण भिन्न-भिन्न आकार के उड़ते हुए दिखाई देते हैं । इन कणों में सबसे छोटे उड़ने वाले कण को परमाणु, उस आकार से कुछ बड़े को अणु तथा अणु से भी कुछ दीर्घाकार कण को वसरेणु कहते हैं ।

पौराणिक गाथाओं के अनुसार सूर्य की एक पत्नी का नाम भी वसरेणु है ।

जान के रूप लुभाय कै नैननि बेचि करी अधवीचही लौँड़ी ।

फैलि गई घर-बाहिर बात सु नीकै भई इन काज कनौँड़ी ।

क्योँ करि थाह लहै घनआनंद चाह-नदी तट ही अति औँड़ी ।

हाय दर्ई ! न यिसासी सुनै कछु, है जग याजति नेह की डौँड़ी ॥५॥

प्रेमिका से उसका प्रेमी विरक्त है किन्तु उनके प्रेम का ढिंढोरा चारों ओर पिट रहा है । अपनी इस बदनामी का विचार करके प्रेमिका अपनी ओलों को कोसती है, क्योंकि प्रेम के क्षेत्र में नेत्रों का कार्य ही प्रधान होता है । इन लोलुपता के ही कारण मूलतः प्रेम-प्रसंग चलता है । अतः अपने नेत्रों को कोसते हुए प्रेमिका कहती है—

इन नेत्रों ने सुजान (सुजान ; प्रिय) के (शारीरिक) सौंदर्य पर मुग्ध करके या सौंदर्य का लोभी बनाकर अथवा सुजान के (रूप-रूपा-चाँदी-द्रव्य या) ऐश्वर्य का लोभी बनाकर, दलालों की भोति, सौदा पूरा पटने से पहिले ही अथवा बीच में ही मुझे (उनके हाथों) बेचकर उनकी दासी बना दिया (अर्थात् सुजान के शारीरिक सौंदर्य या वैभव को देखकर प्रेमिका उनके प्रेम पाश में फँस गई) लेकिन इस बंधन का मूल कारण नेत्र हैं इसलिए उन्हें कवि ने दलाल कहा है । जिस प्रकार दलाल लोग दोनों पक्षों की बात एक दूसरे तक पहुँचाते हैं और दोनों को राजी करके सौदा पटा देते हैं, वही काम नेत्रों ने किया है । उन्हीं के माध्यम से प्रेमिका ने अपने मन के अनुराग को प्रिय पर व्यक्त किया और उन्हीं के द्वारा प्रिय की रूप-भायुरी प्रेमिका तक आई और उन्हीं के द्वारा दोनों के एक दूसरे के प्रेम में फँस गए । [ जब प्रेम-प्रसंग चला तो थोड़े ही समय में ] घर (परिवार) के और बाहर (पास पड़ोस) के लोगों में यह (प्रेम की) बात (शीघ्र) फैल गई अर्थात् सब इस प्रेम गाँथा को जान गए (अतः खेद सा प्रगट करती हुई प्रेमिका कहती है) कि इन नेत्रों के कारण या इन के ही पीछे यह बदनामी मुझे अच्छी तरह उठानी पड़ी अर्थात् मेरे इस सारे लोकपवाद का मूल कारण ये नेत्र ही हैं । परन्तु इतना सब कुछ हो जाने पर भी प्रेम की नदी की याह पाना आसान नहीं है, क्योंकि उसके किनारे पर छुसने में ही अत्यन्त गहराई का सामना करना पड़ता है । साराश यह है कि प्रेम के मार्ग पर चलने में आरम्भ से ही कष्टों का सामना करना पड़ता है । उसमें मान, अपमान, चिन्ता, कसक, वेदना, टीस आदि सब को पी जाना पड़ता है, तब भी प्रेम की याह नहीं मिलती है । देखो न, स्वयं मेरी क्या दशा है ? मैं सुजान के रूप पर मुग्ध होगई, उनके पीछे बदनामी सही परन्तु फिर भी हा दुर्दैव । वह (प्रेम करने में) विश्वासघाती मेरी कुछ सुनता ही नहीं, कभी मुझे प्रतिदान में प्रेम का अंश मात्र भी नहीं देता और सारे संसार में मेरे प्रेम की हुगी पिट रही है अर्थात् सब लोग कहते हैं कि मैं उनसे प्रेम करती हूँ, मैं उन पर आसक्त हूँ । इस प्रकार मेरी बदनामी तो बहुत होती है किन्तु इस बदनामी के बदले में मुझे प्रिय का प्रेम विष्कुल प्राप्त नहीं होता ।

अलंकार—‘रूप’ श्लिष्ट शब्द है ।

खोइ दई बुधि, सोइ गई सुधि, रोइ हँसै उनमाद जग्यौ है ।  
मौन गहै, चकि चाकि रहै, चलि बात कहे तैं न दाह दग्यौ है ।  
जानि परै नहिँ जान ! तुम्है लखि ताहि कहा कहु ग्राहि खग्यौ है ।  
सोचनि ही पचियै घन आनँद हेत पग्यौ किधौ प्रेत लग्यौ है ॥६॥

इस सवैया में प्रेम होने और प्रेत लगने की दशाओं का एकीकरण दिखाया गया है । प्रेमावेश में जो दशा होती है वही दशा भूतावेश में भी । इस प्रकार सदेहालकार द्वारा इस पद में प्रेमोन्माद का वर्णन किया गया है ।

घनानंद जी कहते हैं कि मैं इसी चिन्ता के कारण परेशान हूँ कि मुझे पता नहीं चलता कि उस प्रेमिका को प्रेत-बाधा लग गई है अथवा वह प्रेम (रस) में पगी हुई है ( या प्रेम मग्न है ) क्योंकि बाह्य लक्षणों से कुछ स्पष्ट नहीं होता । लक्षण प्रेत-आधार और प्रणय-साधना दोनों ही ओर ठीक ठीक लग जाते हैं । देखिए, उसकी बुद्धि खो गई है, स्मृति सो गई है ( या जाती रही है ) रो रो कर वह हँस उठती है, और उस पर उन्माद छा गया है । ( कभी एक दम ) चुप हो जाती है, ( कभी ) चक्कपका उठती है, ( कभी ) चकित होकर इधर-उधर देख उठती है, ( कभी ) चली चली बातें करती है [ अथवा ( तुम्हारी ओर ) चलकर ( अपनी ) बात सुनाती है ] किन्तु फिर भी उसकी जलन का तुम्हारे ऊपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता । [ यदि 'तैं न' के स्थान पर 'तन' पाठान्तर स्वीकार कर लिया जाय तो 'तन दाह दग्यौ है' पद का अर्थ होगा, उस प्रेमिका का शरीर विरहजन्य दाह से दग्ध हो रहा है । ] उस नायिका की इस अवस्था को देखकर हे सुजान ! पता नहीं चलता कि आप को देखकर उस प्रेमिका को न जाने क्या हो गया है ? न जाने कौन सी चीज आकर उसके हृदय में समा गई है ?

इस सवैया में उन्माद का सन्देहालकार द्वारा अच्छा चित्र खींचा गया है ।

किहि नेह विरोध यग्यौ सब सौँ, उर आवत कौन के लाज गई ।  
जिहि के भरि भार पहार दवै, जग मोक्ष भई तिन तैं हरई ॥  
दग काहि लगे जु कहूँ न लगै, मन-मानिक ही अन्यानि ठई ।  
घन आनँद जान अजौ नहिँ जानत, वैसे-अनैसे है हाय दई ॥७॥

नायिका अपनी प्रेम दशा पर विचार करती हुई सोचती है —

किसके ऐसे प्रेम में मैं पड़ी कि सारे ससार से विरोध बढ़ गया। कौन यह ऐसा व्यक्ति मेरे हृदय में समा गया कि अन्तर से लाज ही निकल गई, मैं निर्लज हो गई। जिस प्रियतम के रूप, गुण, सौंदर्य और महत्ता के गुणत्व से पहाड़ भी एक बार दब जाय उसी को हृदय में बसा कर मैं ससार के बीच लोगों की दृष्टि में हल्की होगई। मेरे नेत्र किस से लग गये हैं जो अब कहीं लगते ही नहीं हैं। अर्थात् अब अन्य कुछ देखने की इच्छा ही नहीं होती। अब तो मेरे मन रूपी माणिक्य ने ही 'अन खानि' (मन के पक्ष में अनखने या रुठने की प्रवृत्ति और माणिक्य के पक्ष में खाने से बाहर रहने की प्रवृत्ति) धारण कर ली है। और इतना सब हो जाने पर भी सारे ससार के विरोधी हो जाने पर, लाज के धुल जाने पर तथा नेत्रों के अनन्यासक्त हो जाने पर भी, आनन्द के घन प्रियतम सुजान यह नहीं जानते कि विधाता मुझे पर कितना रुठा हुआ है। अथवा हाय देव ! ये हमारे प्यारे सुजान कैसे अनैसे हैं (कैसे विलक्षण अथवा बुरे हैं)।

अलंकार—'किहि नेह विरोध बढ़्यौ सबसौं'—किसी से स्नेह होने पर औरों से विरोध बढ़ने में 'विरोध' अलंकार है।

जिहि..... हरई—विरोधाभास। 'दृगकाहि लगे जु कहूँ न लगै—दृगों के लगकर न लगने में विरोधाभास है।

मन-मानिक—रूपक।

अन खानि—श्लेष।

जान—परिकर। यदि जान श्रीकृष्ण के विशेषण के रूप में लिया जाय तो परिकराकुर अलंकार होगा।

जान जानत—यमक अलंकार।

दृग लगना, कहीं न लगना—मुहाविरों का विरोधाभास सहित सुन्दर प्रयोग हुआ है।

घर ही घर चंचिद-चाँचरि है, बहु भौंतिन रंग रचाय रह्यौ।

भरि नैन हिंयै हरि सुमि समहार सबै करि नाक नचाय रह्यौ ॥

घन आनंद पै ब्रज-गोरिन को नख तै सिख लौ चरचाय रह्यौ।

लखि सुनो सकै कित, रावसे हूँ विरहा नित फाग मचाय रह्यौ ॥८॥

इस सवैया में विरहा को फाग मचाने वाला बताया गया है। जिस प्र फाग खेलने वाले चोचरि गाते हैं, सबको रंगों से रंग देते हैं और परेशान व हैं, उसी प्रकार यह विरह भी करता है।

विरह—( ब्रज-गोपिकाओं को ) घर घर में वदनामी रूपी चोचरि ( ह का राग) गाता फिरता है तथा उनकी कई प्रकार के विनोद तमाशे आदि अपनी ओर आकर्षित कर रहा है ( अथवा बहुत प्रकार के लाल, पीले, आदि रंगों से सब को रंग रहा है ) वह ( हर गोपिका के ) नेत्रों ( को आँ से ) और हृदय ( को व्यथा से ) भर कर तथा दृष्टि को ( नेत्रों को ) सभाल या होश को ( हृदय से ) हटा कर सबको नाक के बल नचा रह अर्थात् सबको परेशान कर रहा है। घनानन्द जी कहते हैं कि ब्रज वनिताओं वही विरहा सिर से लेकर पैर तक रंग या कीचड़ से भर रहा है।

( अतः विरहिणो कहती है कि ) आपके द्वारा भेजा हुआ विरह मुझे अं कैसे देख सकता है ( अर्थात् अकेला नहीं देख सकता है ) ( अतः कुछ कुछ खेल तमाशे करने के बहाने ) वह नित्य प्रति फाग मचाता रहता है।

विशेष—चौचँद-चोचरि—रूपक अलंकार

भरि नैन हियँ }  
हरि स्मृत्त संहार } दीपक अलंकार

‘भरि नैन हियँ हरि स्मृत्त संहार’—यथा सख्य अलंकार

रंग रचाय रह्यो, नाक नचाय रह्यो, चरचाय रह्यो, फाग मचाय रह्यो अ मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

छाप्य

मही दूध सम गनै, हंस-वक्-भेद न जानै ।

कोकिल-काक न ज्ञान, काँच-मनि एक प्रमानै ।

चंदन-ठाक समान राँग-रूपौ सम तोलै ।

विन विवेक गुन-दोष, मूढ़-कवि व्यौरि न बोलै ।

प्रेम-नेम, हित चतुरई, जे न विचारत नेकु मन ।

सपने हूँ न बिलविगै, छिन तिन विग आनंदघन ॥६४

प्रस्तुत छाप्य में कवि प्रेम-नीति का उपदेश देता हुआ कहता है कि —

जो लोग मट्ठा और दूध को एक जैसा गिनते हैं ( उनमें भेद नहीं मानते हैं ) हस और बगुला का (वर्ण सादृश्य होने से) अन्तर नहीं जानते हैं तथा जे कोयल और काक का भी ज्ञान नहीं है और जो रंगे (घटिया वस्तु) को के बराबर महत्त्व देते हैं। जिसको गुण और दोष का विवेक या ज्ञान नहीं है। कौन मूर्ख है और कौन पंडित इसका निर्णय (स्वयं करके) नहीं बना सकते जो प्रेम के नियम और अनुराग, चतुरता और 'हित' (प्रेम) पर भी अपने मन चार नहीं करते, ऐसे लोगों के पास स्वप्न में भी, एक क्षण भर के लिए भी, ठहरना चाहिए अर्थात् ऐसे अज्ञानियों के पास भूलकर भी नहीं जाना पड़े।

अलंकार—पूरे पद में प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

## रूप-माधुरी

लपेटी चितवनि भेद-भाव-भरी,  
लसति ललित लोल-चख-तिरछानि में ।  
छुवि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,  
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में ।  
दसन दमक फैलि हियै मोती माल होति,  
प्रिय सौ लड़कि प्रेम-पगी बतरानि में ।  
आनंद की निधि जगमगति छुबीली बाल,  
अंगनि अनग-रग दुरि मुरि जानि में ॥१०॥

इस कवित्त में कवि विलासवती सयोगिनी नारी की प्रिय के समीप रहते की मुद्रा एवं चेष्टाओं का वर्णन करता हुआ कहता है कि—  
सुन्दर ( प्रेम के मट से मस्त होने के कारण ) लाल नेत्रों को तिरछा कर देखते समय उस स्त्री की रहस्यपूर्ण ( अथवा अप्रकट काम ) भावों से भरी चितवनि जो कि लज्जा ( के आवरण ) से लिपटी हुई है ( अर्थात् खुलकर की ओर देखने में वह लज्जा का अनुभव करती है ) सुशोभित होती है ।  
। गौर वर्ण का मुख शोभा का घर है और मस्तक भी अच्छा लगने वाला उसकी मीठी एवं मृदु मुस्कराहट में ( प्रतीत होता है कि मानों ) रस



( मीठा घोल ) टपका पड़ता है । अर्थात् वह स्त्री सुन्दर गौर वर्ण, रुचिर ललाट वाली एवं हँसमुख है । जिस समय वह अपने प्रियतम से 'लडक' के साथ अथवा लाड़ में आकर ( लड़ियाय कैं ) प्रेन से भरी हुई बातें करती है, उस समय ( दाँतों का उज्ज्वल वर्ण होने के कारण ) उनकी चमक फैलकर हृदय पर मोती की माला जान पड़ती है अर्थात् हँसते समय वक्षस्थल पर दाँतों की चमक से एक प्रभामण्डल सा बन जाता है । ( इस प्रकार ) वह छविमान प्रेमिका (वाला) अपने अँगों में काम-जन्य छटा से मिलकर या भरकर, धूम जाने या मुड़ जाने में ( जगर मगर अनल शिखा सी ) प्रकाशित ( सी ) हो उठती है । वह आनन्द की निधि है ।

उक्त पद में कवि अपने हृदय की सम्पूर्ण तन्मयता के साथ नारी के वाद्य सौंदर्य-सृष्टि के निर्माण में निरत है । कला की दृष्टि से यह पद दृष्टव्य है ।

भलकै अति सुन्दर आनन गौर, छुके दग राजत काननि छुवै ।  
हँसि बोलनि मैं छवि-फूलन की बरपा, उर ऊपर जाति है ह्वै ।  
लट लोल कपोल कलोल करै, कल कठ बनी जलजाबलि ह्वै ।  
अँग-अग तरग उठे दुति की परिहै मनौ रूप अबै धर चवै ॥११॥

नायिका के वाद्य सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि—

( नायिका ) का अत्यन्त सुन्दर गौर वर्ण का मुख भलक रहा है ( उसमें उसके ) आकर्ण ( या कानों को छूने वाले ) प्रेम के मद से मस्त नेत्र सुशोभित हो रहे हैं । जिस समय वह हँसकर वार्तालाप करती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसके वक्षस्थल पर सौंदर्य के फूलों का वर्षा हो जाती है । उसकी लटें सुन्दर कपोलों पर झिलती हैं तथा सुन्दर गर्दन में दो लर की मोतियों की माला पहिने हुई है । इस प्रकार एक-एक अंग का रूप पान करता हुआ कवि नारी के अत्यन्त रूपाकर्षण से आकृष्ट होकर कह उठता है कि उसके अंग प्रत्यग से प्रभा की लहर सी उठती हैं और लगता है मानो अभी पृथ्वी पर रूप टपक पड़ेगा ।

छवि को सदन, मोद मडित वदन-चंद,

तृपिन चखन लाल । कव धाँ दिखायही ।

चटकीलो भेप करें, मटकीली भोति साँही,

मुरली शधर धरै लटगत शाय ही ।

लोचन दुराय, कहु मृदु मुस्कयाय, नेह—

मीनी वतियानि लडकाय वतराय हौ ।

विरह-जरत जिय जानि, आनि प्रान प्यारे,

कृपानिधि ! आनंद को घन दरसाय हौ ॥१२॥

विरहिणी मन ही मन कृष्ण के उस रूप का वर्णन करती हुई, जिसमें वह उनके दर्शन करना चाहती है, उपालम सा देती हुई कहती है—

हे लाल ! तुम आनन्द से महित रहने वाले चन्द्रमा रूपी मुख-को, जो कि शोभा का आगार है, ( इन रूप-जल के ) प्यासे नेत्रों को पता नहीं कब दिखलाओगे ? ( पता नहीं ) छैल चिकनियों जैसा मड़कीला रूप बनाकर तथा चटक मटक के ढग से ही मल्ली से भूमते हुए अथवा जल खाते हुए, अपने अधरो पर बाँसुरी रख कर ( बजाते हुए ) कब आओगे ? ( कौन सा ऐसा दिन होगा जब ) आँखों से आँसु मिलाकर या अपने नेत्रों को इधर उधर चलाते हुए या मटकाते हुए तथा मृदु भाव से दुःख रहस्यपूर्ण भावों से भरी हुई स्मित के साथ प्यार से संचित बातों को लटक के साथ या कूचों की भाँति भोलेपन से कहते हुए ( हम से ) वार्तालाप करोगे । ( और मैं यह भी नहीं कह सकती कि कब ) मेरे हृदय को विरहाग्नि में जलता हुआ जान कर हे ! कृपानिधान प्रियतम !, ( तुम आओगे और ) आकर आनन्द के मेघ को वर्षा करोगे ( जिससे कि विरहाग्नि शान्त हो सकेगी ) ।

५) वहै मुसक्यानि, वह मृदु वतरानि, वहै,  
लडकीली वानि आनि उर में अरति है ।

वहै गति लैन, औ वजावनि ललित वैन,  
वहै हँसि देंन, हियरा तें न टरति है ।

वहै चतुराई सों चित्ताई चाहिये की छवि,  
वहै छैलताई न छिनक विसरति है ।

आनंद निधान प्रान प्रीतम सुजान जू की,

सुधि सब भाँतिन सों वेसुधि करत है ॥१३॥ ✓

प्रेमिका को अपने प्रिय की मुस्कान याद आ रही है । कभी उनका मधुर वरों में बात करना याद आता है, कभी उनका नाचते-नाचते सहसा ही गति

लेना और कभी उनका बोंसुरी बजाना याद आ जाता है। कभी वह सोचती है— उस दिन वह अनायास ही हँस पड़े थे। प्रेमिका रुक रुक कर अपने प्रिय की चेष्टाओं को स्मरण कर रही है। इस प्रकार इस कवित्त में नायिका श्रीकृष्ण जी की सयोग काल की चेष्टाओं एवं मुद्राओं का स्मरण करती हुई कहती है कि—

सयोग काल में श्री कृष्ण जी हम से मुस्करा मुस्करा कर लुभावनी मुद्रा दे सुखद वार्तालाप किया करते थे। मस्ती के साथ हमारे पास मुरली बजाते हुए आते थे। अकारण ही कभी कभी हँस देते थे। वे बड़े रंगीले थे और बहुत ही चतुरता से हमें समय-असमय पर अपना उपस्थित होना सूचित कर दिया करते थे। किन्तु आज वियोगावस्था में शरीर अलग होगए हैं तो क्या ? हमारे सामने से उनका रूप हटता ही नहीं। अब तो उनकी वही मुस्कान और वही मृदुलता से किया गया वार्तालाप एवं लुभावनी मुद्रावाली आदतें अथवा लड़कों जैसी बोली, ( आ आकर ) मन में अड़ जाती है ( निकालने से निकलती ही नहीं )। यही तक नहीं उनका उसी मस्त चाल से आना, और बोंसुरी का सुंदर रूप से बजाना और ( कभी कभी अकारण ही ) हँस देना हमारे हृदय से धलने का नाम तक नहीं लेता। ( कहीं तक उनकी जाँतें याद की जाँय ) श्री कृष्ण की सयोगावस्था में हमारी ओर देखते समय की वह शोभा जब वे हमें बड़ी चतुरता से अपने उपस्थित होने की सूचना दे देकर हमें देखा करते थे और छैल चिकनियों बन कर आया करते थे, वह मुद्रा, अब हमारे मन से क्षण भर को भी दूर नहीं होती, हम उसे भूल नहीं पाती। ( और अब तो यह दशा आगई है कि ) आनंद के निधान एवं ( हमारे ) प्राणों को सबसे अधिक प्रिय ( आदरणीय प्रेम-भाजन ) श्री कृष्ण जी की स्मृति हम को सब प्रकार आआकर बेहोश कर देती है।

प्रस्तुत पद अपनी सगीतात्मकता में अद्भुत है। अन्यान्यप्राप्त तो हिन्दी साहित्य की आरम्भ से ही प्रधान विशेषता रही है। इस पद में अन्तर्वर्ण मैत्री का भी सुंदर सयोग सगठित हुआ है। जिस प्रकार प्रेमिका अपने प्रिय की चेष्टाओं को रुक रुक कर याद कर रही है, ठीक उसी प्रकार कवित्त की गति भी रुक रुक कर चल रही है। मुस्क्यानि, वतपानि, गानि, आनि, लन, बैन, दैन, चतुर्गई, चितार्द, छैलवार्द, आनंद-निधान, प्रान, सुजान आदि शब्दों पर पढ़ते पढ़ते रुकना पड़ता है।

विशेष—‘वहै चतुराई सों चितार्ई’—प्रायः देखा जाता है जब दो प्रेमी आपस में मिल जाते हैं और उस समय कोई कारण विशेष होने के कारण बातें नहीं कर पाते, उस समय वे अपनी उन्मत्ति की सूचना एक दूसरे को विविध प्रकार की क्रियायें करके दिया करते हैं यथा खोंस कर, गाकर, कोई विशेष शब्द कह कर, किसी अन्य को पुकार कर आदि। उद्धृत पंक्ति में इसी चतुराई की स्मृति कराई गई है।

इस कवित्त में स्मृति संचारी है।

अन्तिम पंक्ति में ‘सुधि’ और त्रिसुधि में यमक अलंकार है।

‘रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारिये ।  
 त्यों इन आँखिन वानि अनौखी, अघानि कहूँ नहिँ आनि तिहारिये ।  
 एक ही जीव हुतौ सुतौ वार्यौ, सुजान ! सकोच औ सोच सहारिये ।  
 रोकी रहै, न दहै, घन आनंद वावरी रीम के हाथनि हारिये ॥१४॥

इस सवैया में कवि सुजान के रूप को नित्य नवीनता की ओर संकेत करत हुआ कहता है कि—

हे सुजान ! आपके रूप की रीति अनुपम है। उसकी कोई उपमा नहीं है, क्योंकि उसे जैसे जैसे देखा जाता है वैसे ही वैसे नया नया प्रतीत होता रहता है और जिस प्रकार आपके रूप की रीति अनुपम है उसी प्रकार, मैं तुम्हारी शपथ खाकर कहती हूँ कि, मेरी इन आँखों की आदत भी अनोखी है। वे आप के रूप का पान करतीं करतीं कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करतीं। हमेशा उसे देखना ही चाहतीं हैं। आँखों की तो यह दशा है और मेरा जो अकेला जीव था मैंने आपके ऊपर उसे निछावर कर दिया। अब मेरे पास सकोच एवं चिन्ता के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं है। अतः आप सहारा दीजिए, मेरा भार अपने ऊपर लीजिए। अन्यथा काम बिगड़ जाएगा। देखिए भी तो रीम मेरे रोके रकती ही नहीं और अत्यन्त आनन्द दायक (उसी) रीम के हाथों हार माननी पड़ती है। अपनी इसी रीम के कारण ही तो मैं विवश हूँ।

विशेष—(१) ‘नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारिए’ माघ ने भी एक स्थल पर लिखा है ‘क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया ।’ इस विषय में मतिराम के एक सवैया की एक पंक्ति दर्शनीय है—

“ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि  
त्यों त्यों खरी निखरै सी निकरई।”

कीर्त्तस ने भी सौंदर्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—

“Beauty is joy for ever”

(२) ‘एक ही जीव हुतो सु तौ वार्यौ’.—सूर ने भी कई स्थलों पर कृष्ण के प्रति गोपिकाओं के प्रिय की अनन्यता प्रतिपादित करने के लिए ऐसी ही वाक्यामलों का प्रयोग किया है यथा

ऊधौ मन न होहि दस बीस ।

एक हुतो सो गयो स्याम सग को आराधै ईस ।” तथा

ऊधौ मन नहि हाथ हमारे ।

रथ चढ़ाय हरि सग गए लै मथुरा जबहि सिधारे ।”

(३) यद्यपि घनानन्द ने विहारी की अकुरित यौवना नायिका के चित्राङ्गन की भौति कलाकारों में ‘कूरता’ का आरोप नहीं किया है, उन्होंने बिना उपहास किए हुए ही अपनी नायिका अथवा नायक के अनन्त सौंदर्य का मूल्याङ्कन करने का प्रयत्न किया है तथापि उनके नायक अथवा नायिका का रूप विहारी की नायिका से कुछ कम नहीं है।

जीवन हौ जिय की सय जानत जान ! कहा कहि बात जतैथै ।

जो कहु है सुख सपति सौंज सु नैसिक ही हँसि दैन में पैयै । ।

आनंद के घन ! लागै अचभौ परीहा-पुकार तें क्यों अरसैयै ।

प्रांति परी अखियानि दिखाय के हाय, अनीत सुदीठि छिपैथै ॥१५॥

प्रेमी अपने प्रिय को दर्शन न देने पर उपालम्भ देता हुआ कहता है।

हे सुजान ! आप मेरे प्राणों के लिए भी प्राण हैं अर्थात् मुझे अत्यन्त प्रिय है । आप मेरे मन की हर बात को ( भली भौति ) जानते हैं ( अतः मेरी समझ में नहीं आता कि ) क्या बात कह कर मैं अपने मन की बात आपको बतलाऊँ । सारांश यह है कि मैं समझ नहीं पाता कि किस प्रकार अपने हृदय की बात आप पर प्रगट करूँ ) अधिक क्या कहूँ ससार की जो कुछ भी सम्पत्ति एन सुख की सामग्री है वह सब आपके योड़ा सा दंस देने भर में ही मुझे प्राप्त होजाएगा।

( और फिर भी तुम रुटे रुटे फिरते हो, । ) मैंने तो सुना है कि आप आनंद देने वाले बादल के समान रसमय हैं जो पपीहा की पुकार पर रस-धार बरसा देता है । परन्तु हे आनंद के धन सुजान ! मुझे आश्चर्य हो रहा है कि पपीहा (जैसे मुझ प्रेमी की) पुकार पर तुम बरसते क्यों नहीं ? तुम पुकार सुनकर भी आलस्य कर रहे हो । शीघ्र क्यों नहीं आजाते । (अथवा) चातक की पुकार पर भी आप न रसने वाले, जल न बरसाने वाले, अथवा प्रेम न करने वाले और शुष्क क्यों बने हुए हैं । हाय ! क्या तुम्हें पता नहीं है कि यह कितना बड़ा अन्याय है ? पहिले तो आपने प्रेम से परिपूर्ण आँखों से देखकर प्रेम-मद से भरे हुए नेत्र मिलाए और अब मेरे प्रति अन्याय करके आँखें चुराते हो । अब दर्शन भी नहीं देते हो ।

✓ <sup>माननी</sup> <sup>पुष्प</sup> <sup>अति</sup>  
चोप चाह चावनि चकोर भयो चाहत ही,  
 सुपमा—प्रकाश मुख सुधाधर पूरे को ।  
 कहा कहीं कौन कौन विधि की बँधनि बँध्यौ,  
 सुकस्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को ।  
 जाही जाही अंग पर्यौ ताही गरि गरि सर्यौ,  
 हर्यौ बल वापुरे अनंग-दल-चूरे को ।  
 अब बिन देखें जान प्यारे यौ अनदघन,  
 मेरौ मन भवै भद्र ! पात है बधूरे को ॥१६॥

प्रेमी ने एक बार अनन्त सौंदर्यमयी चंद्रमुखी प्रेयसी को जूड़ा बाँधे हुए देखा था । उसकी उस समय की शोभा को देखकर प्रेमी का मन जूड़े के विचित्र प्रकार की बँधान में बंध गया था । उसका जूड़ा ही सुंदर न था, पूरी अंग-यष्टि अनन्त सौंदर्यमयी थी । अतः उसका मन उसके अंग प्रत्यंग पर निछावर होगया । उस ( मन ) की सारी शक्ति हर गई । उस समय की शोभा प्रेमी को स्मृति-पटल पर अंकित है । उस स्मृति को लेकर ही वह कहता है—

मुख रूपी पूर्ण चन्द्रमा के सुपमा रूपी प्रकाश को देखते ही ( मेरा मन ) लालसा, इच्छा और अनेक उमंगों को लेकर चकोर के समान होगया अर्थात् उस मुक्त-श्री को निर्निमेष देखने की उत्कट भावना मन में जाग उठी । ( इसके आगे ) मैं क्या कहूँ ? ( पता नहीं मेरा मन ) किस प्रकार की बँधानों में बँध गया

और भली भौंति कस गया जो जूड़े की बनावट को, उसके गूथने के काँशल को देखकर, उसका न सका अर्थात् वही अटक कर रह गया । ( यही तक उसकी कमजोरी न रही ) वल्कि जिम जिस अग पर मन जा पड़ा, जिम जिम अग के मैं देखने लगा, उसी अग पर मन गल गल कर चुक गया या उमी अग पर गड़ा ही रह गया ( और इस प्रकार ) बेचारे काभदेव की सेना में चूर-चूर किए गए मन का ( सब ) बल हर गया ( बेचारा मन बिल्कुल शक्तिहीन हो गया । ) इस पर वियोग की असह्य वेदना का सामना करना पड़ रहा है । अतः अग बिना अत्यन्त आनन्द को देने वाले प्रियतम सुजान के दर्शन किए हुए, मेरा मन है सखी ! बगलडर में पड़े हुए पत्ते की भौंति चक्कर ही काटता रहता है ( कभी स्थिर नहीं हो पाता है, सदा उड़ा उड़ा ही रहा करता है ) ।

अलंकार—‘सुषमा-प्रकाश’, ‘मुख-सुधाधर-रूपक’

‘कौन कौन’, ‘जाही जाही’, ‘गरि गरि’—पुनरुक्ति प्रकाश

‘चोप चाह चावनि चकोर’, ‘कहा कहाँ कौन कौन’, ‘विधि  
की बधनि बध्यौ’ ‘बल बापुरे’, ‘मेरो मन’, ‘भवै भद्र’ } अनुप्रास

पात हैं बधूरे को—उपमा

अनदधन—श्लेष

नैननि मैं लागै जाय, जागै सु करेजे बीच,  
या बस है जीव धीर होत लोट पोट है ।

रोम रोम पूरि पीर, व्याकुल शरीर महा,  
धूमे मति गति—आसैं, प्यास की न टोट है ।

चलत सर्जोवन - सुजान - दृग - हाथन ते,  
प्यारी अनियारी रुचि रखवारी थोट है ।

जय जब आगै तब तब अति मन भागै,  
अहा कहा विषम कटाछ - सर - चोट है ॥१७॥

इस कवित्त में कथानु-पाणों की चोट को सामान्य बाण की चोट से मिलाना बताया गया है । सामान्य बाण जिम स्थल पर लगता है उसकी पीड़ा भी वही होती है । धीर पुरुष उस चोट को सहन भी कर लेते हैं । उस बाण का प्रभाव

समस्त शरीर पर नहीं पड़ता, उस समय जो प्यास लगती है वह जल पान करने से शान्त हो जाती है। परन्तु नुजान के दृग रुपी हाथों से चलने वाले इन कटाक्ष बाणों की चोट बड़ी विलक्षण है—

ये कटाक्ष बाण लगते तो नेत्रों में हैं किन्तु इनकी चोट की पीड़ा कलेजे में जाकर कमकती है और इस पीड़ा के वशीभूत होकर ( बड़े बड़े धैर्यवान् ) प्राणियों का धैर्य ( अथवा प्राणों का धैर्य ) भी अन्तव्यन्त हो जाता है। इसकी पीड़ा ( शरीर के ) रोम रोम में व्याप्त हो जाती है और ( सारा ) शरीर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। बुद्धि गति ( मार्ग पाने ) की आशा में चक्कर पाने लगती है तथा इसके प्रहार से ( रूप की ) प्यास की कमी होती ही नहीं है। ये ( कटाक्ष बाण ) प्राणों को जिलाने वाले नुजान के दृग रुपी हाथों से प्रिय लगने वाली एव चुभने वाली कान्ति की रत्ना की ओट लेकर चलाए जाते हैं। और जब जब ( ये कटाक्ष बाण ) आते हैं तब तब मन को अत्यन्त प्रच्छेद लगने हैं। अहा ! (महान् आश्चर्य है; देखो न) कटाक्ष रुपी बाणों की चोट क्या ही विलक्षण है।

जैसा कि इस कवित्त के प्रसंग में कहा जा चुका है कि साधारण बाण से कटाक्ष बाणों को यहा विलक्षण कहा गया है। विलक्षणता इनमें यही है कि साधारण बाण जहाँ लगते हैं वही कमकने हैं परन्तु ये बाण लगते नेत्रों में हैं और पीड़ा इनकी हृदय में होती है। सामान्य बाण की चोट घीर लोभ सहन कर भी लेते हैं, परन्तु इन बाणों के प्रहार से घीर प्राणियों का भी माहम लोट पोट हो जाता है। साधारण बाण की पीड़ा श्रग विशेष तक ही सीमित रहती है, परन्तु इन कटाक्ष बाणों की घीर रोम रोम में व्याप्त हो जाती है। सारा शरीर इनके प्रहार में व्याकुल हो जाता है। सामान्य बाण से चोदित व्यक्ति की प्यास पानी पीने से शान्त हो जाती है, परन्तु कटाक्ष बाण लगने पर रूप-रूपा की कमी नहीं होती है वह शान्त नहीं होती है। साधारण बाण हाथों से छुँदे जाते हैं, ये दृग-हाथों से चलते हैं। साधारण बाण अपनी ओर आने प्रच्छेद नहीं लगते परन्तु कटाक्ष बाण जब जब आते हैं तब तब मन को प्रिय लगने हैं।

सन्तकार—पूरे कवित्त में व्यतिरेक पुष्ट साग रूपक की व्यवस्था है।

‘मनन में लगी..... करने दीव’—प्रसंगिक प्रसङ्ग।

‘रोम रोम, जब जब, तब तब’—पुनः एक प्रसङ्ग।



पुष्पा-रंग-हाथन , कटाक्ष-सर-रूपक

निष्-धौस खरी उर माँझ अरी, छवि रंग भरी मुरि चाहनि की ।  
तकि मोरनि त्यों चख डोर रहे, ढरिगौं हिय डोरनि चाहनि की ।  
चट दै कटि पै बढ़ि प्रान गए गति सो मति मै अवगाहनि की ।  
घन आनंद जान लगी जवतैं जक लागी है मोहि कराहन की ॥१८॥

नायक ने अपनी प्रियतमा को मुड़कर निहारते हुए देखा और उसकी अगभगिमा पर रीझ गया । वह कहता है—

प्रियतमा की, मुड़कर देखने के समय की, रंग भरी उत्तम छवि दिन रात मेरे हृदय में अड़ी ( बसी ) रहती है । उस छवि को देखने के लिए मेरे नेत्र मोरों की तरह ललकपूर्ण हो उठे थे । मानो उस छवि को देखने की उन्हें 'ढौरी' लग गई [ मोर मेघों को देखने के लिए ललकपूर्ण हो उठते हैं और उसी प्रकार मेरे नेत्र भी मुड़कर देखती हुई नायिका की अगभगिमा को बार बार निहारने के लिए ललकपूर्ण हो उठे थे ] नायिका जब मुड़कर देख रही थी उस समय उसकी सुगठित माहो का ढलान और सुछ बकिम कटि नायक को आकर्षित कर उठी । [ मुड़कर देखने का चित्रोपम वर्णन भी यहाँ बाँह और कटि के द्वारा संकेतित है । ] मुड़कर देखने पर तिरछा कटि प्रदेश और एक बोट, भुज मूल से हाथ तक के पूर्ण सौंदर्य के साथ, दिग्गलार्द पड़ेगी । यह चित्र वनानंद के मन में इस कवित्त को लिखते समय उपस्थित था ।

मेरे प्राण उसकी कमर पर ( पहिले ) उसके परन्तु चट से बढ़ी गति के साथ वे आगे बढ़ गए और मुड़कर देखने के समय नायिका के मन में संचरित होती हुई मति का अवगाहन करने लगे । नायक के प्राणों में, मुड़ कर देखने की शारीरिक क्रिया के पीछे छिपी हुई प्रियतमा के मन की बात को, समझने की आसुलता व्याप्त होगई । वनानंद जी कहते हैं कि जब से मैंने सुजान की इस प्रकार की ( जान ), जाने की प्रिवि देखी है तब से मुझे कराहने की जक लग गई है । उस छवि का स्मरण कर कर के मैं कराहती रहती हूँ ।

शिष्या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में पृष्ठ ३७३ पर 'मुरि चाहनि' और 'तकि मोरनि' से यह अभिप्राय ग्रहण किया है

कि "एक बार नायक ने नायिका की ओर मुड़कर देखा फिर देख कर मुड़ गए और अपना रास्ता पकड़ा । देखकर जब वे मुड़े तब नायिका का मन उनकी ओर इस प्रकार ढल पड़ा जैसे पानी नाली में ढल जाता है । कटि में बल देकर प्यारे नायिका के मन में डूबने के ढव से निकल गए ।"

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'तकि मोरनि तौ चख दोर रहे, दरि गौ हिय दोरनि बाहनि की' पंक्ति का अर्थ लिया है "( जैसे उनके मुड़कर देखने की छुटा हृदय में छाई है ) वैसे ही देख कर जब वे मुड़े तो नेत्र उनके पीछे लगे ( उन नेत्रों के रास्ते ) हृदय उसी प्रकार ( उनमें ) ढलकर जा मिला जैसे नाली से पानी ढलकर निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच जाता है ।

किन्तु उपर्युक्त दोनों ही अर्थ हमारे अर्थ से भिन्न हैं । यह अर्थ-विपर्यय 'दोर और 'बाहनि' शब्दों के अर्थ के कारण हुआ है । 'दोर रहे' पद का अर्थ आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने 'पीछे हो लिए' 'साथ लगे' लिया है । वस्तुतः 'दोर' शब्द ब्रज प्रान्त में प्रचलित शब्द 'दौरी' का परिवर्तित रूप है जिसका अर्थ होता है 'किसी वस्तु की बार-बार इच्छा करना ।

दूसरा शब्द 'बाहनि' है जिसका अर्थ प्रवाह लिया गया है । वस्तुतः बाहनि 'बोह' का बहुवचन रूप है ।

इस पद की तृतीय पंक्ति में 'प्राण गए' का अर्थ घनानन्द कवित्त के सग्रहकर्ता ने 'प्राण निकल गए' लिया है । प्राण निकलने से पहिले कराहने की जक लगी रहना पुरानी परम्परा है । यहाँ प्राण निकल ने के बाद घनानन्द को कराहने की जक लगी है, यह थोड़ी ध्यान देने की बात है । वस्तुतः प्राण यहाँ निकले नहीं है बल्कि वे दृष्टि के प्रतीक होकर प्रियतमा की अग्र-न्याय की यात्रा कर रहे हैं । पहिले उन्होंने प्रियतमा का गर्दन मोड़कर देखना देखा, फिर भुज मूल, तदनन्तर कटि प्रदेश, और फिर शीघ्रता के साथ आगे बढ़ गए, प्रेमिका की 'मति' को याह लेने लगे ।

हूँ

वसन - वसन ओती भरियै रहै गुलाल,

हँसनि - लसनि ल्यों कपूर सरस्यो करै ४

सौंसनि सुगंध सोंधे कोरि क समोय धरे, ५

अग अग रूप रग-रस वरस्यो करै ।

जान प्यारी ! तो तन, अनदंघन — हित नित,  
 अमित सुहाग — राग, फाग दरम्यो करै ।  
 इते पै नवेली लाज अरस्यो करै जु, प्यारो,  
 मन फगुवा दे, गारी हू कौँ तरस्यो करै ॥१६॥

प्रस्तुत कविच मे कवि को नायिका के शरीर मे होली की सभी सामग्री मिल जाती है। उसकी उस होली—पर्व से साम्य रखने वाली छवि पर मुग्ध होकर नायक अपना मन उस नायिका को होली के उपहार मे दे देता है। परन्तु नायिका लज्जावश प्रतिदान मे नायक से अन्य बातें करना तो दूर रहा होली की गाली भी नहीं दे पाती। कवि को इस का बहुत दुःख होता है। वह कहता है कि —

दोतों के वस्त्र, रदच्छद, अथवा होठो की भोली मे, गुलाल भरा ही रहता है। उन पर लालिमा छाई ही रहती है तथा हँसने की छया कपूर की भोंति छाया रहती है अथवा कपूर की भोंति सुगंध फैलाती रहती है (हान्य का रग कवि-समय में श्वेत माना गया है और कपूर भी श्वेत रग का ही होता है)। सोंसो की सुगंध ने करोड़ों पदार्थों को सुगन्धित करके रख छोड़ा है। उसके प्रत्येक अंग के सौंदर्य से रग का रस बरसता रहता है अथवा प्रत्येक अंग के रग (वर्ण) से होली का रंग बरसता रहता है। हे प्रियतम सुजान, तेरे शरीर मे अत्यन्त आनन्ददायक प्रियतम के लिए नित्य प्रति अमित सौभाग्य ही फाग के राग की भोंति दिखाई पड़ता है। अथवा अत्यन्त सौभाग्य (मंगल-चिन्दु) फाग की ललार्द की भाति छाया जान पड़ता है)। इतने पर भी तेरी सकोच वाली आदत ऐसी बाधा डालती है कि प्रिय अपना मन होली के उपहार में देकर भी गाली तक के लिए तरसता रहता है। तेरी लज्जा, उससे और बातें करना तो दूर रहा, होली की गाली भी उसे नहीं देने देती। उसने तो तुझे अपना मन दे डाला परन्तु तू उसे दो (मीठी) गालिया भी नहीं देती।

अलंकार—‘अग-अग—पुनरुक्ति प्रकाश

‘राग’, ‘लालिमा’—श्लेष

## प्रिय के प्रति

भण अति निठुर, मिटाय पहचानि डारी,  
 याही दुख हमै जक लागी हाय हाय है।

तुम तौ निपट निरदर्द, गई भूलि सुधि,  
 हमें सुल सेलनि सो क्यों हूं न मुलाय है ।  
 मीठे मीठे बोल बोलि, ठगी पहलें तौ तव,  
 अब जिय जारत, कहौं धौं कौन न्याय है ।  
 सुनी है कै नाही, यह प्रगट कहावति जू,  
 काहु कलपायहै सु कैसे कल पाय है ॥ २०॥

प्रिय के द्वारा अपने को भुला दिए जाने पर विलुब्ध नायिका अपने अन्तरतम की पीड़ा की ओर इ गित करती हुई प्रिय को विश्वासघात करने का उपालंभ देकर लोक विश्रुत कहावत का स्मरण कराती हुई चेतावनी सी देती हुई कहती है—

( तुम तो ) अत्यन्त निष्ठुर हो गए ( इसी से तुमने हमारी ) पहिचान को भी भिन्न दिया अथवा पूर्ण रूप से भूल गए ( किन्तु तुम्हारे इसी व्यवहार से दुःखी होने के कारण ) हमें 'हाय-हाय' करने की रत्न लग गई है ( और अब हम हमेशा दुःख मनाया करती हैं। परन्तु हमारे दुःख मनाने से होगा क्या ? हमें मालुम है कि ) तुम तो अत्यन्त निर्दय हो और हमारी स्मृति को भी भूल गए हो— ( परन्तु हम तुम्हें नहीं भूलें हैं इसीलिए यह वियोग की पीड़ा मारे डालती है और चू कि यह पीड़ा सामान्य पीड़ा नहीं है ) अतः उस पीड़ा की मार का अनुभव हम से किसी भी प्रकार से भुलाया नहीं जायगा । ( परन्तु तुम निर्दय ही नहीं कपटी भी हो इसीसे तो ) तब ( संयोगकाल में ) आरम्भ में मीठी मीठी बातें कहीं ( और इस प्रकार भुलावे में डालकर ) ठग लिया परन्तु अब ( वियोगावस्था में दूर रह कर, दर्शन न देकर ) हृदय जलाते हो । ( बि काम और यह परिणाम दोनों में कोई सगति भी हो ! अच्छी तुम्हीं बताओ ) ऐसा करने में कौन सा न्याय है ? ( विपरीत लक्षणा से ) ऐसा करने में ( मैं कहती हूँ कि ) घोर अन्याय है अतः ) सावधान ! आपने यह प्रसिद्ध कहावत अभी तक सुनी है या नहीं ? ( यदि नहीं सुनी है तो सुनलो ) ( जो व्यक्ति ) किसी व्यक्ति को तड़पाएगा वह किस प्रकार शान्ति पा सकेगा अर्थात् उसे शान्ति नहीं मिल सकेगी ( तड़पाने वाला स्वयं तड़पता रहेगा ) ।

इस पद में निष्ठुर होना, पहिचान भिन्न होना, जक लगना, सुधि भूलना, मीठे मीठे बोल बोलना, जिय जलाना, आदि मुहाविरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

कवित्त की अन्तिम पक्ति के रूप में ढली हुई कहावत अपनी संगीतात्मकता में अद्भुत एवं मर्मस्पर्शी है।

अलंकार—‘हाय-हाय’ में वीप्सालकार है।

‘मीटे-मीटे’ में पुनरुक्ति प्रकाश।

‘कलपाय है’, ‘कल पाय है’ में यमक अलंकार है।

ॐ मीत सुजान अनीति करौ जिन, हा हा न हूजिए मोहि अमोही ।  
दीठि काँ और कहूँ नहिँ ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही ।  
एक बिसास की देक गहँ लगि आस रहे बसि प्रान—बटोही ।  
हौ घनआनंद जीवन मूल दई । कित प्यासनि मारत मोही ॥२१॥

कवि सुजान [(१) श्रीकृष्ण (२) प्रेमिका] को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि—मैं हा हा खाता हूँ। आप मुझे (अपने रूप एवं गुणों पर मोहित करके अब निर्मोही न हो जायँ)। (ऐसा करना कोई नीति नहीं है अतः) हे मित्र सुजान ! (ऐसी) अनीति मत करना। (देखो न ! तुम पर ही मोहित होने से) मेरी दृष्टि के लिए अब अन्य कोई विश्राम-स्थल, जहाँ वह टिक, सके शेष नहीं बचा है। मेरे नेत्रों में आपके ही रूप की दुहाई फिर गई है। (मेरे नेत्रों में अब आपका ही रूप बस गया है)। मेरे प्राण रूपी पयिक (जो कि चलने को तैयार हैं) केवल एक विश्वास (कि तुम अमर्य मिलोगे) का सहारा पकड़े हुए, आशा लगाकर, (यहाँ) बसे हुए हैं। यदि वह भी सहारा छूट जाय तो प्राणों का शरीर से भी सम्बन्ध टूट जाय। (सुजान) तुम अत्यन्त आनन्द दायक हो और मेरे प्राणों के भी मूल कारण हो (परन्तु इतना होने पर भी) हे भगवान ! आप मुझ रूप के प्यासे को प्यासों क्यों मारे डालते हैं।

श्लेष-वच से चतुर्थ पक्ति का अर्थ यह होगा कि आप (सुजान) आनन्द के बादल हैं, अतः जल के (अत्यन्त भण्डार हैं फिर भी) हे दैव ! मुझे प्यासों मारे डालते हैं। जीवन मूल (पानी के मूल कारण) होने पर भी (पानी के) प्यासे को पानी देकर जीवन दान नहीं देते ?

अलंकार—प्रथम पक्ति—‘हा हा’—वीप्साल अलंकार ।

तृतीय पक्ति—प्रान-बटोही—रूपक

‘घन आनंद’, ‘जीवन मूल’ — श्लेष

चतुर्थ पक्षि का अर्थ यह भी हो सकता है कि घनानंद कहते हैं, हे सुजान !  
म जीवन के मूल (पानी) के मूल कारण ही हो परन्तु हे दैव ! इतने पर भी मुझे  
म प्यास क्यों मार रहे हो ?

मैं हँसि हेरि हर्यौ हियरा, अरु क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई । ॥१॥  
काहे कोँ योलि सुधासने बैननि, चैननि मैन-निसैन चढ़ाई ॥  
सो सुधि मौ हिय में घनआनंद सालति क्यों हू कड़ै न कड़ाई ।  
माँत सुजान अनीति की पाटी, इते पै न जानियँ कौने पढ़ाई ॥१२॥

हे मित्र सुजान ! यदि आपको यही अनीति करनी थी तो पहिले आपने मेरी  
शेर क्यों हँसते हुए देखकर मेरा हृदय हर लिया और क्यों प्रेम करके मेरे चित्त  
। (सामीप्य प्राप्त करने की) उत्कण्ठा बढ़ाई । क्यों (आपने) अमृत से भरे  
मुखद) वचन कहे (और क्यों) आराम से मुझे काम के सोपान पर चढ़ाया (अर्थात्  
गमोद्दीपक चेष्टाएँ और मुद्राएँ, क्यों दिखाई जिससे मैं तुम्हारे प्रेम-पाश में पड़  
या) । इतने पर भी आप अन्याय करते हैं । पता नहीं आपको यह अनीति करने  
का पाठ किमने पढ़ाया है अथवा आपने यह अनीति करने की परिपाटी कहा से  
लिया की है ? क्योंकि उस समय की स्मृति, घनानंद कहते हैं, मेरे हृदय में  
रसकृती रहती है, और निकालने से भी निकलती नहीं है । परन्तु तुम अलग हो,  
जाते भी नहीं । मेरी तुम्हें क्या याद आती होगी ? यदि आती तो आते क्यों नहीं ?

विरही की एक विशेष मन-स्थिति होती है । विरहकाल में वह समझता है कि  
उसका प्रणयी उसे विस्मृत भूल गया है, शायद उसका प्यार भी मर गया हो ।  
और साथ ही साथ यह भी सोच लेता है कि मैं जितना प्यार उसे करता हूँ उतना  
वह मुझे नहीं करता और न कर सकता है । भीत सुजान को अनीति की पाटी पढ़ा  
आ कहे जाने में, यह मन-स्थित कार्य कर रही है ।

प्रियतम सुजान मेरे हित के निधान, कहौ  
कैसे रहै प्रान जो अनिख अरसाय हो  
तुम तौ उदार दीन हीन आन पर्यौ द्वार,  
सुनियै पुकार मोहि कौलो तरसाय हो  
चातिक है रावरो, अनोखो मोह आवरो,  
सुजान रूप आवरो, वदन दरसाय हो

विरह नसाय, दया हिय मे बसाय, आय  
हाय ! कब आनंद को घन बरसायहौ ॥२३॥

यदि किसी से कोई कार्य कराना हो तो उससे डाट-डपट कर कार्य कराना असभव नहीं तो कठिन अवश्य होजाता है। किन्तु डाट फटकार के स्थान पर यदि उसकी कुछ प्रशंसा करदी जाय तो काम आसानी और प्रसन्नता पूर्वक हो जाने की संभावना अधिक होजाती है। इसी मनो-वैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर प्रणयी अपने प्रेम-भाजन सुजान से कहता है—

हे मेरे सबसे अधिक प्रिय और प्रेम के (एक मात्र) आधार सुजान ! अब तुम्हीं बताओ कि मेरे पास आने में तुम रुठ कर यदि इतना आलस्य करोगे तो मेरे ये प्राण (जिनके कि तुम्हीं एक मात्र आधार हो) कैसे बच सकेंगे ? अर्थात् यदि तुम शीघ्र नहीं आओगे तो ये प्राण बच नहीं सकेंगे। (तुम आओगे मुझे ऐसा विश्वास है) क्योंकि तुम बड़े उदार (हृदय) हो और मैं (सब प्रकार से) निर्धन (एव साधन) रहित हूँ। आपकी शरण में आकर आपके द्वार पर ही पड़ा हूँ। अब तो आपको इस दीन की पुकार सुननी ही पड़ेगी। सोचो भी तो, इतना झुककर मैं शरण आया हूँ, फिर भी आप मुझे तरसाते हैं। अब तो मेरी पुकार सुन ही लो। (नहीं तो कब तक और तरसाते रहोगे)। पता नहीं हाय ! आप कब हृदय में दया का सञ्चार करके मेरे विरह को आकर नष्ट करेंगे और आनंद देने वाले मेघ की वर्षा करेंगे। मैं तो हे सुजान ! आपके आनंद के घन रूप मुख का चातक हूँ। और विशिष्ट प्रकार के मोह से आकुल (या आवृत) हूँ (तथा पूर्णरूप से पूर्व परिचित) आपके रूप पर पागल और मुख को देखने का इच्छुक हूँ। अतः आप अपना मुख कब दिखलाएंगे ?

यह पद गेयता के विचार से बहुत सुन्दर है। बीच बीच की वर्ण-मैत्री के कारण इस लय में एक विशेष बल आजाता है। सुजान, निधान, प्रान, उदार, द्वार, पुकार, रावरो, आवरो, वावरो, नसाय, बसाय, आय, हाय आदि की तुक मिलते जाने से सुनने में पद बहुत सुन्दर लगता है।

पहिले थपनाय सुजान सनेह सों, क्यों फिर तेह के तोरियै जू।  
निरधार आधार दै धार-मभार दर्ई ! गहि बौह न बोरियै जू।

घन आनंद आपने चातक कौं गुन बाँधि लैं, मोह न छोड़ियै जू ।  
रस प्याय के ज्याय, चढाय कै आस, विसास मैं यौ विस छोड़ियै जू ॥

हे सुजान ! पहिले तो तुमने प्रेम पूर्वक अपनाया, अब क्यों रोग प्रगट कर के उस सम्बन्ध को तोड़ रहे हो ? पहिले मैं जब धारा के बीच में बिना अवलंब के बहा जा रहा था, ( डूब रहा था ) तब आपने आधार दिया ( और डूबने से बचा लिया ) परन्तु अब फिर मेरा त्याग कर रहे हो, यह उचित नहीं । हाय भगवान् ! तुमने जिसकी बाँह पकड़ी है उसे अब (फिर से छोड़ कर) क्या तुम्हें मझधार में डुबाना चाहिए । ( बाँह पकड़ने एवं अवलम्ब देने का भी ध्यान रखना चाहिए ) । घनानंद कहते हैं अथवा हे आनंद देने वाले बादल के समान सुजान ! अपने लिए चातक बने हुए प्रेमी को अपने गुणों पर मुग्ध करके, अपनी विशेषताओं से बाँध कर के उसके प्रति अपने हृदय का मोह नहीं छोड़ना चाहिए ( क्यों कि दोनों विरोधी बातें हैं और आपके रूप पर मुग्ध चातक के लिए कष्टदायी हैं ) । फिर यदि आप ऐसा नहीं करते तो ठीक नहीं है । आने प्रेम रस का पान कराके हमें बिलाया और अनेक महत्वाकांक्षाएं बढ़ाई और अब आप विश्वास में इस भौंति बिप धोल रहे हैं क्या आपकी तरह विश्वास में इस प्रकार बिप धोला जाता है ? अर्थात् विश्वास का नारा किया जाता है ।

घन आनंद रस-ऐन, कहाँ कृपानिधि कौन हित ।

मरत पपीहा-नैन, दरसौ पै बरसौ नहीं ॥ २५ ॥

हे कृपा निधि ! बादल ! तुम जल के धर और आनन्द के देने वाले किस लिए हो, जबकि नेत्र रूपी पपीहा ( तृषाकुल हो ) मरे जाते हैं और तुम दिखाई तो पड़ते हो मगर बरस कर उनकी तृषा, स्वांति नक्षत्र के जल से, नहीं बुझाते । अथवा

हे कृपा निधि प्रिय ! ( तुम ) अत्यन्त आनन्ददायक एवं प्रेम के आगार हो परन्तु यह तो कहो कि यह तुम्हारा कैसा प्रेम है जो हमारे प्रेम में विह्वल चातक रूपी नेत्र मर रहे हैं और तुम दिखाई तो देते हैं परन्तु ( प्रतिदान में ) द्रवीभूत होकर प्रेम नहीं करते ।

अलंकार—घन आनंद, रस-ऐन—श्लेष अलंकार



पपीहा-नेन—रूपक

आसा--गुन बाँधि कै भरोसो—सिल धरि छाती  
 पूरे पन-सिधु में न बूझत संकायहौँ ।  
 दुख-दच हिय जारि, अंतर उदेग आँच  
 रोम रोम आसनि निरंतर तचायहौँ ।  
 लाख लाख भोतिन की दुसह दसानि जानि  
 साहस सहारि सिर आरे लौँ चलायहौँ ।  
 ऐसे घन आनंद गही है टेक मन माहिं  
 पूरे निरदई तोहि दया उपजायहौँ ॥ २६ ॥

कोई प्रेमिका अपने निष्ठुर प्रिय के हृदय में दया उपजाना चाहती है। यह मानी हुई बात है कि किसी अत्यन्त निर्दय के हृदय में भी दया उत्पन्न हो सकती है, यदि उसका 'कोई', जिससे वह उदासीन है, उसकी आँखों के ही सामने झुब मरने को तैयार हो जाए। इसी आशा में प्रेमिका दुस्सह यातनाएँ भेलने को उद्यत है, कि किसी न किसी घटना से उसका निष्ठुर प्रिय निश्चित रूप से द्रवीभूत हो जाएगा। वह कहती है कि—

आशा रूपी रस्ती में अपने को बाँधकर अर्थात् आशा लगाए रहकर, विश्वास रूपी पत्थर छाती पर रख कर ( हृदय कठोर करके ) उसका विश्वास किए रह कर, मैं प्रेम की प्रतिज्ञा के पूर्ण समुद्र में ( कूद कर ) डूबने में भी शक्ति न होऊँगी। ( तथा ) दुख की दावाग्नि से हृदय को जलाकर, भीतर होने वाली व्याकुलता की अग्नि में अपने शरीर का रोग्रां रोग्रां पीडाग्रों से निरन्तर तपाती रहूँगी। ( और ) लाखों प्रकार की (अथवा सख्यातीत) कठिनाइयों से सहन करने योग्य दुख की दशाग्रों को जान कर या जानते हुए भी साहस पूर्वक सँभल कर ( उन दशाग्रों को ) सिर पर आरे की भोति चलाऊँगी। अर्थात् उन दुस्सह दशाग्रों से अत्यन्त कष्ट मिलने पर भी उनको सहती रहूँगी। इस प्रकार घनानंद जी कहते हैं कि प्रेमिका ने अपने मन में टेक ग्रहण करली है। ( और वह कहती है कि ) हे निष्ठुर ! ( ऐसे उपक्रम करके ) मेरे हृदय में ( निश्चित रूप से ) दया उत्पन्न करवा लूँगी।

इस पूरे पद में कवि कहना यह चाहता है कि प्रणयी मन के लिए प्रेम में हार्दिक अथवा मानसिक कष्ट कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता । इस क्षेत्र में प्रसर व्यक्ति अपने मार्ग की कठिनताओं एवं यातनाओं से भयभीत नहीं होते बल्कि उनका हार्दिक स्वागत करते हैं । साधारण सुखों और दुःखों की अवस्था में मान्यतः लोग सुखों को अकेले एवं दुखों को मिल बाँट कर भोगना चाहते हैं म के क्षेत्र में प्रणयी सुख को प्रिय से मिल कर एवं दुखों को अकेले ही भेलना चाहता है । प्रेम का मार्ग ही विलक्षण है ।

अलंकार—आसा-गुन . . . सकाय हो—साग रूपक

दुःख दब; उदय-आँच—रूपक

रोम रोम; लाख-लाख—पुनरुक्ति प्रकाश

जान राय ! जानत सबै, अंतरगत की बात ।

क्यों अजान लौं करत फिर, मो घायल पर घात ॥ २७ ॥

प्रेमी को उपालम्भ सा देती हुई प्रेमिका कहती है—

हे तुजान ! अथवा तुजानों में सर्व श्रेष्ठ ( प्रियतम ) आप मेरे हृदय में घमान रहते हुए सभी कुछ जानते हैं ( केवल आप का नाम ही जानराय नहीं अपितु आप निस्संदेह हृदय की बात समझने में सर्वश्रेष्ठ हैं ) । लेकिन इतना रयक नाम होने पर भी क्रिया-कलाप तदनुकूल नहीं है । इसीलिए तो अज्ञानकारी आ आचरण करते हैं । यही मेरे दुःख का कारण है और इसीसे मैं कहती हूँ कि हे यतम ! आप तुजानों में भी श्रेष्ठ होकर न जानने वालों अथवा मुखों की भौंति र मुक्त घायल-हृदय पर इस प्रकार का निष्ठुर आचरण करके पुनः आघात रों करते हैं ? ( अर्थात् इस प्रकार दुःखी करने में, कलपाने में आप को क्यों नन्द आता है, जो आप आकर दर्शन भी नहीं देते, और जबकि आप से मेरी ई बात छिपी नहीं है, आप हर बात को मली भौंति समझते हैं ) ।

अलंकार—‘जानराय’—परिकराकुर, ‘अजान लौं’—उपमा

जै ही रहे हौ सदा मन और को देवौ न जानत जान दुलारे ।

देख्यौ न है सपने हू कहूँ दुख, त्यागे सकोच आँ सोच सुखारे ।

कैपो सँजोग वियोग धौं आहि । फिरौ घन आनंद हूँ मतवारे ।

मो गति वृष्णि परै तब ही जब होहु घरीक हू आप तें न्यारे ॥ २८ ॥

प्रेमिका प्रेमी की निरुत्तरता पर खीझती हुई कहती है कि आप संयोग और वियोग की अवस्थाओं को, सुख और दुःख की मृदु एवं कटु अनुभूतियों को क्या समझें ? आप तो सदा से ही औरों का मन लेते रहे हैं । यदि किसी में स्वयं प्रेम किया होता और तुम्हारे साथ अपने भी ऐसा ही व्यवहार किया होता, जैसा आप मेरे साथ कर रहे हैं, तब आप मेरे दुःख को समझने के पात्र हो सकते थे । परन्तु ऐसा है नहीं । यदि आप कहीं एक घड़ी भर के लिए अपने आप से अलग हो जाँय, प्रेम की तन्मयता में अपने को भूल जाँय अथवा मेरी ही भाँति अपने मनको, अपने सर्वस्व को दूसरे को समर्पित करदे तो आप मेरी दुःखानुभूति को भलीभाँति अनुभव कर सकते हैं ।

हे सुजान आप दुलारे हैं । आप से जिस किसी ने भी प्रेम किया है, दुलाराया ही है, दुतकारे जाने का कभी समय ही नहीं आया । अर्थात् अभी तक के सभी प्रेमीजन आप को मना मना कर ही मुग्ध करते रहे हैं । इस प्रकार उन मनाने वालों का, उन प्रेमियों का, मन आप सदा से लेते ही रहे है ( अथवा उनका स्नेह ही अब तक आप प्राप्त करते रहे है ) उसके प्रतिदान में ( मेरा विश्वास है ) आपने कभी ( अपना ) मन या स्नेह उन्हें नहीं दिया । अतः आप विरहियों के दुःख के मूल कारण से बचे हुए हैं । आपने अपना मन किसी को अभी तक नहीं दिया है । अभी तक तो आप लेना ही पढ़े हैं देना नहीं । इसीलिए आपने अभी तक किञ्चित् मात्र, स्वप्न तक में, कभी दुःख नहीं देखा । जब किसी वस्तु को देखा ही नहीं तो उसकी जानकारी कैसी ? जब ठोकर ही नहीं लगी तो मर्मान्तक पीड़ा की अनुभूति कहाँ से हो ? आपने सकोच और शोक दोनों को त्याग दिया है ( अर्थात् आप को दूसरे के प्रेमाश्लावित हृदय की उमंग को तोड़ने में किसी प्रकार का सकोच नहीं होता और किसी को दुःख में पड़ा जानकर शोक आप के पास फटकता नहीं क्योंकि आप 'सुखारे' हैं सुखी प्राणी हैं । अतः शोक और सकोच दोनों ही आपके पास नहीं आते । धनानन्द जी कहते हैं अथवा वे देने आनन्द को देने वाले सुजान संयोग अथवा वियोग की अवस्थाओं में से जब किसी एक में भी मतनाले होकर ( पागल या मदोन्मत्त होकर ) आप चारों ओर घूमते फिरें, तब आप जान सकते हैं कि संयोग या वियोग की अवस्थाएँ कैसी होती हैं । संयोग और वियोग दोनों का सापेक्षिक महत्त्व है । यदि वियोग ही नहीं होता तो संयोग सुख की अवस्था की

अनुभूति का पता ही क्या चलता ? यहाँ प्रेमी ने लेना ही सीखा है देना जानता ही नहीं। वह सुखी प्राणी है दुख से स्वप्न में भी उसका साक्षात्कार नहीं हुआ। वे सयोग वियोग क्या हैं, जिन में और प्रेमीजन मदोन्मत्त होकर चक्कर काटते रहते हैं, उसे पता ही नहीं, ऐसा प्रेमी अपनी प्रेमिका के हृदय की बात को उस पर पड़ने वाले कष्ट को, कैसे जान सकता है ? अतः प्रेमिका प्रेमी को, अपनी वेदना की अनुभूति कराने का उपचार बताती है। उसका कथन है कि मेरी दशा कैसी है, यह आप तभी समझ सकेंगे जब कभी घड़ी भर के लिए भी आप अपने आपसे अलग हो जाएँ, आप अपने को ( प्रेम की तन्मयता में ) भूल जायँ ( अथवा अपना मन किसी और को दे दें अथवा किसी और के प्रेम पाश में स्वयं पड़ जायँ । )

रोम रोम रसना है लहै जो गिरा के गुन,  
तऊ जान प्यारी ! निवरै न मैंन आरतैं ।  
ऐमे दिन दीन पै दया न आई दई तोहि,  
विप—भोयो विपम वियोग—सर मारतैं ।  
दरस सुरस—प्यास भाँवरे भरत रहौं,  
फेरियै निरास मोहिं क्यों धौं यौं सब द्वार तैं ।  
जीवन—अधार घनआनंद उदार महा,  
कैसेँ अनसुनी करी चातिक पुकार तैं ॥२६॥

‘मी अपनी अतृप्त काम-लालसा की तीव्रता की ओर सकेत करके अपने प्रातः कए गए प्रिय के व्यवहार के प्रति उसे सचेत करता है और उसकी महानता एवं उदारता की प्रशस्ति गाकर उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है, वह कहता है कि :—

हे प्रियतम ! सुजान यदि ( मेरे शरीर का ) प्रत्येक रोम जीम हो कर वाणी का गुण पा ले ( अर्थात् रोम रोम में कहीं बोलने की शक्ति आजाय ) तब भी ( अर्थात् रोमावली जितनी रसनाएँ होजाने पर भी ) मैं हृदय में स्थिति काम की लालसा ( का वर्णन करने से ) निवृत्त न हो पाऊँगा। उनका कथन करने से झुठकारा न मिलेगा ( अथवा काम की लालसा तब भी कहते-कहते चुक नहीं पाएगी )। ऐसे सदा दीन रहने वाले मुझ पर, विप में बुझा हुए विपाक्त वियोग रूपी विप्रम बाण मारते हुए ( हे निडुरे ! ) तुझे ( तनिक भी ) दया नहीं आई ?

( दया क्यों आती निष्ठुर ही जो ठहरी । अस्तु, अब भी चेत जाओ ) । मैं तुम्हारे दर्शन रूपी सुरस (मीठे जल) की प्यास के कारण, उस तृप्ता को शमन करने के विचार से (तुम्हारे घर की अथवा तुम्हारी) भोंवरे भरता रहता हूँ, तुम्हारे घर के चक्कर काटता रहता हूँ, फिर-फिर आता हूँ और फिर जाता हूँ । तुम तब भी नहीं पिघलती हो ( अब तो मेरी अनुनय-विनय सुनलो ) । अब तुम मुझे अपने द्वार आजाने पर, शरणागत हो जाने पर, इस प्रकार निराश करके, मेरी सारी आशाओं पर पानी फेर करके, किस लिए 'फेर' रही हो (याचक को निराश करके क्यों लौटा रही हो) । मैंने सुना है, मुझे पता लगा है कि तुम महान उदार आनंद देने वाले बादल हो । जीवन अर्थात् जल के तुम आधार हो [ अर्थात् तुममें केवल जल ही जल है । तृपित याचक को जिस वस्तु की आवश्यकता है उसकी आप परमनिधि है ] इतना होने पर भी हे आनंददायक घन ! आपने चातक क पुकार सुनने में अनुसुनी किस प्रकार करदी । (चातक पुकार पुकार कर प्राण खोए देता है, परन्तु तुम तक उसकी सूचना ही शायद नहीं पहुँचती । यदि पहुँचती है तो आप अनुसुनी क्यों कर रहे हैं ) ।

जीवन आधार घन आनंद उदार महा,  
कैसे अनुसुनी करी चातिक पुकार तें ।

इस पंक्ति में 'जीवन आधार' एवं 'घन आनंद' पद श्लिष्ट हैं । श्लेष बल से इस पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा. —

“हे महान उदार अत्यन्त आनंद दायक एवं (मेरे) जीवन के एक मात्र अवलंब (प्रियतम ! ) आपने मुझ चातक रूपी प्रेमी की (निरन्तर) पुकार को क्यों अनुसुना कर दिया है ? मैं तो 'दरस-सुरस' रूपी स्वोत्ति-जल का प्यासा अतृप्त प्रेमी चातक हूँ और आप जीवन के आधार आनंद देने वाले घन । सत्र शुभ लक्षणों का संयोग संचित होगया है, फिर भी आप सुनते नहीं ।

अलंकार —

रोम रोम—पुनरुक्ति प्रकाश । वियोग सर—रूपक, दरस-सुरस-प्यास—रूपक

रोम रोम रसना, भोंवरें भरत आदि में अनुप्रास । 'दिनदानी' के ढरें पर 'दिन दीन' शब्द गढ़ा गया है ।

जीवन अघार } श्लिष्ट पद है।  
घन-आनन्द

महात्मा तुलसीदास की भाँति ही घनानन्दजी के प्रेम का आदर्श भी चातक और घन का प्रेम प्रतीत होता है। रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति 'विष्णुनि मीन की और मिलन पतंग को' उनका प्रेमादर्श वाक्य प्रतीत नहीं होता। मीन और पतंग के प्रेम से अपने प्रेम को उन्होंने कई स्थलों पर श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है।

देखिए, सवैया न० २ की व्याख्या में विवेचित घनानन्द की प्रेम विषयक विचार धारा।

मोही मोह जनाय कै, अहै अमोही ! जोहि ।  
सोही मोही सों कठिन, क्यों करि सोही तोहि ॥३०॥

प्रेमिका अपने प्रियतम को प्रेम कर के मुकर जाने पर, निष्ठुरता दिखाने पर उपालम देती हुई कहती है :—

अरे मोह रहित (या निष्ठुरता के पुतले) प्रियतम ! मेरी ओर प्रेम पूर्वक देखकर तथा प्रेम प्रगट करके तुमने मुझे (पहिले) मोहित कर लिया, अपने प्रणय पाश में बाँध लिया (और जब मैं तुम्हारे लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार होगई तो) वही (प्रेम प्रगट करने वाला) हृदय मुझसे ही कठोर होगया, मेरे प्रति निष्ठुरता का व्यवहार करने लगा। ऐसी निष्ठुरता तुम्हें क्यों कर अच्छी लगने लगी ! (अर्थात् ऐसी कठोरता तुम्हारे लिए अशोभन है। इस कठोरता को त्यागना ही श्रेयस्कर है)।

‘मोही’, ‘अमोही’, ‘मोही’, ‘सो ही’, ‘सोही’ यमक अलंकार।

इस दोहे में यमक अलंकार का चमत्कार दिखाया गया है। साथ ही पदावली विरही के दुःखोच्छ्रासों को वहन करने में पूर्ण समर्थ है। आलंकारिक सौंदर्य के साथ ही साथ कुछ विपाद, कुछ पश्चाताप (मोही मोह जनाय कै, अहै अमोही ! जोहि।), कुछ आश्चर्य (सो ही मोही सों कठिन) और कुछ मुंभलाहट (क्यों करि सोही तोहि) दो ही पक्तियों में प्रदर्शित कर दी गई है। इस दृष्टि से यह दोहा बड़ा ही चमत्कार पूर्ण एवं सरस है।

राति—घोस कटक सजे ही रहै ढहै दुख,  
 कहा कहौं गति या वियोग बजमारे की ।  
 लियौ घेरि औचक अकेलो कै विचारौ जीव,  
 कछु न बसाति यौ उपाय-बल-हारे की ।  
 जान प्यारे लागौ न गुहार, तौ जुहार करि,  
 जूझि है निकसि टेक गहें पन धारे की ।  
 हेत-खेत-धूरि चूर चूर ह्वै मिलैगो, तब  
 चलैगी कहानी घन आनंद तिहारे की ॥ ३१ ॥

प्रस्तुत कवित्त में विरही वियोग का विषम पीडाजन्य आकुलता से घबड़ा कर प्रियतम को पुकार उठता है । चूँकि प्रिय के हाल के आचारण को देख देखकर उसे विश्वास नहीं होता कि प्रियतम उसकी पुकार सुन कर आ ही जायेंगे, अतः वह अपनी कठोर प्रतिज्ञा को कह कर प्रियतम को चेतावनी देता हुआ कहता है कि मैं तो प्रेम क्षेत्र में काम आऊँगा ही परन्तु मेरे प्रति किए गए तुम्हारे व्यवहार की भी कहानी बहुत समय तक चलती रहेगी ।

इस 'बजमारे' वियोग की हालत क्या बताऊँ । यह तो रात दिन सैना तैयार किये हुए मुझे दुःख में जलाता ही रहता है । इस ने विचारे जीव को अचानक ही अकेला जान कर आक्रमण करके घेर लिया है । अतः अब इस वियोग से उपाय और बल कर के हारे हुए ( प्राणों पर इस का ) कोई वश नहीं चलता उनके ( प्राणों के ) सभी उपाय और बल अब काम नहीं देते ।

इसलिए हे प्यारे सुजान ! यदि अब इस समय जो इनकी 'गुहार न लगेँगे' अर्थात् इनकी पुकार सुनकर इनको उबारने के लिए नहीं आएँगे तो ये प्राण सहायता के लिए चिल्ला कर अथवा अन्तिम प्रणाम करके मैदान में आकर वियोग कटक से प्रतिज्ञा का पूर्ण करने की ऐक का निर्वाह करते हुए लड़ मरेंगे । और जब इस प्रकार ये प्राण प्रेम-क्षेत्र की मूलि में चूर चूर होकर मिल जायेंगे अर्थात् जब विष्कुल नष्ट हो जायेंगे, तो उस समय इन की प्रतिज्ञा-निर्वाह की ऐक और उनके साथ किए गए आपके व्यवहार की, कहानी घननाद जी कहते हैं, ( ससार में ) चल उठेगी ।

“चलैगी कहानी घन आनंद तिहारे की” इस पंक्ति का ‘चलैगी कहानी’ अश बहुत महत्त्व पूर्ण है। ‘कहानी चलैगी’ अर्थात् लोग इस प्रसंग को बार बार कहेंगे सुनेंगे और जब वह कहानी एक से दूसरा सुनेगा या कहेगा तो आत्मकी बदनामी ही होगी। क्यों कि आपका विरही आपको पुकार रहा था और पुकार सुनकर के भो न आने पर, वह आपके प्रेम से विमुख होने के स्थान पर, स्वयं अकेला ही रणस्थल में उतर कर, युद्ध करके जूझ मरने की प्रतिज्ञा करता है। यदि कहीं आपका प्रेमी प्रेम-क्षेत्र में जूझ कर उतकी धूलि में चूर चूर होकर मिल गया, तो निस्संदेह, हे अत्यन्त आनन्ददायक प्रियतम ! यह तुम्हारे लिए घोर कलंक की बात होगी और तुम सदा के लिए बदनाम हो जाओगे।

अलंकार—‘हेतु’, ‘स्वैत’ ‘धूरि’—रूपक। चूर-चूर—पुनर्वक्ति प्रकाश।  
घनआनंद—कवि।

का नाम, अत्यन्त आनन्ददायक प्रियतम का विशेषण—श्लेष,

जान प्यारी ! हौं तौ अपराधनि सों पूरन हौं,  
कहा कहौं ऐसी गति, आवत गरौ रुक्यौ।  
साध मारै सुधा तो सुमाय के मिठासै ताकी,  
आसा लै दहति, मै चरन-कंज सों रुक्यौ।  
इते पै जो रोप कै रसीली हियो पोख्यौ करौं,  
तौ न कहूँ गैर जी को, वे हूँ म्लारो रुक्यौ।  
ऐसैं सोच—आँचनि आनंदघन सुखनिधि,  
लपट कटै न नेकौ हा हा जात बनो रुक्यौ ॥३॥

इस कवित्त में विरही अत्यन्त दुःख से व्याकुल होकर अपने को अपराधों से पूर्ण मान लेता है। उन अपराधों का वर्णन करना (उसके अनुसार) उसकी शक्ति से बाहर है। दूसरी ओर प्रिय की साध उसे अपनी सहज मधुरिमा से मारे डाल रही है, जिससे बचने की उसे कोई आशा नहीं है। प्रिय पर उसे विश्वास नहीं आता कि वे उसका रक्षा करेंगे और अन्य कोई उसका सहायक है ही नहीं। इस प्रकार सब तरफ से निराश होकर वह विरही कह उठता है कि इस सोच की अग्नि में कहा तक जलू। यह जलना भी बड़ा अद्भुत है। ज्वाला की लपटें नहीं निकलतीं पर हृदय फिर भी जला जा रहा है—



हे प्रियतम सुजान ! मैं तो अपराधों से पूर्ण हूँ ( अर्थात् मैं पूर्ण रूप से अपराधी हूँ । इन्हीं अपराधों के परिणाम स्वरूप मुझे ये अनेक कष्ट भेलने पड़ते हैं, जिनमे मेरी ऐसी दशा होगई है ) । मैं ( अपनी ) ऐसी ( दुःखमयी ) दशा के विषय में क्या कहूँ ? ( अर्थात् अस्वस्था अब ऐसी होगई है कि उसके विषय में कुछ कहना भी कठिन है ) और उसको कहना भी चाहूँ तो मेरा गला रुका आता है अर्थात् मैं अपनी दशा का वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ । क्यों कि पहिले तो मैंने तुम्हारे प्रति इतने अपराध किए हैं कि उनकी क्षमा पाना ही असम्भव है । फिर उन अपराधों के करने पर प्रायश्चित्त रूप में मैंने जो दुःख उठाए हैं, उनके प्रकोप से मेरी ऐसी दुर्दशा होगई है कि उस दुर्गति का वर्णन करना मेरे वश का नहीं रहा । यदि इतने पर भी कुछ करना चाहूँ तो गन्ना धोका ठे उड़ता है । कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है । ( अतः मैं अपनी अस्वस्था का वर्णन करने में असमर्थ हूँ ) । मेरी तो स्वयं ही ऐसी कष्टमयी दशा है, उस पर आपकी साध की स्वाभाविक मिठास रूपी सुधा भी मुझे मारे ढाल रही है । यदि इस प्रकार मारने से सताप के भय से आपके चरण-कमलों में जा छिपूँ तो उसकी आशा ही जलाए ढालती है । ( इस पक्ष का साराश यह है कि मैं आपके दर्शन की उत्कट इच्छा रखता हूँ । वह अपनी स्वाभाविक मिठास में सुधा के समान मधुर है परन्तु आपके दर्शन न होने से वह साग ही मुझे जलाती रहती है । यदि इस जलन से बचने के लिए आपके चरणों का आश्रय तबूँ तो उन चरणों का आश्रय प्राप्त होना कठिन है । यदि उनका आश्रय मिल जाय, अर्थात् आप से मिलाप हो जाय तो मेरे सारे कष्ट स्वतः ही नष्ट हो जायें और फिर मिलन की आशा लेकर उसमें जलने का मूल कारण ही नष्ट हो जाय ) ।

जब यह हालत है तो बिरही कहता है यदि इन मम बातों का स्मरण करके हे रसीली सुजान ! मे अपना हृदय हिममत करके कठोर बनालूँ ( अर्थात् निराश होकर आपके चरणश्रय की आशा छोड़ दूँ ) तो फिर मेरे हृदय के लिए और कोई दूसरा आश्रय ही नहीं है । ( मुझे यदि कहीं शरण मिल सकती है तो केवल आपके पाम, अन्यत्र नहीं ) अतः हृदय कठोर कर लेने पर, आपके चरणों की आशा छोड़ देने पर, आश्रय का भगड़ा हो चुक जाना है । मेरे सामने आश्रय का कोई ( प्रेम की अनन्यता के कारण ) प्रश्न ही नहीं रह जाता है ) ।

हे अत्यन्त आनन्ददायक सुखनिधि तुजान !, मेरा हृदय इस प्रकार सोच की अग्नि में, भीतर ही भीतर फुँका चारहा है और ( चड़े दुख एवं आश्चर्य की बात है कि ) बाहर लपट भी नहीं निकल पानी । ( अर्थात् विरह दुःख के कारण हृदय तो अत्यन्त व्याकुल है परन्तु शरीर के बाह्य लक्षणों से उस तीव्र वेदना का कोई संकेत ही नहीं जान पड़ता । )

‘सोच-आँचनि’—रूपक अलंकार । ‘हा हा’—वीप्सा अलंकार

तेरे देखिये कौं सबही त्यों अनदेखी करी,

तू हू जो न देखै तौ दिखाऊँ काहि गति रे ।

सुनि निरमोही एक तोही सों लगाव मोही,

सोही कहि कैसैं ऐसी निडुराई अति रे ।

विष सी कथानि मानि सुधा पान करौं जान,

जीवन निधान हूँ त्रिसासी मारि मति रे

जाहि जो भजे सो ताहि तजे घन आनँद क्यों,

हति कै हितुनि, कहाँ काहू पाई पति रे ॥३३॥

इस पद में प्रेमिका अपने प्रिय को अपने प्रेम की प्रगाढ़ता की दुहाई देकर तथा उससे विश्वासघाती बनकर न मारने का अनुरोध करती और एक साधारण लोकोक्ति का व्यंग्यात्मक प्रयोग कर के अपने प्रति उसे आकर्षित करने के लिए उपालम देती हुई कहती है कि—

मैंने ( एक मात्र ) तुमको देखने के लिए ( तुम्हारे प्रेम के वशीभूत होकर ) ( अन्य ) सभी ( लोगों ) की ओर देखना बंद कर दिया । ( इतने पर भी यदि तुम ( मेरी ओर ) नहीं देखते ( मुझसे प्रेम नहीं करते ) तो यहाँ मेरा अब अन्य कौन है ? अतः मैं ! किसे अपनी दशा दिखाऊँ ( अर्थात् अब मेरी दशा को देखकर मेरे प्रति सहानुभूति रखने वाला अन्य कोई नहीं है, किसे मैं अपनी दशा दिखाकर कुछ सुख एवं सन्तोष लाभ कर सकूँ । मेरे जो कुछ हो तुम ही हो ) । फिर भी तुम ऐसा व्यवहार कर रहे हो अतः ) हे निर्मोही ! सुन, मेरे हृदय का अथवा मेरा एक मात्र तुझ से ही प्रेम है ( फिर भी तू निगुर हो गया है ) हाय ( यह ) अत्यन्त निगुरता ( तुझे ) किस प्रकार अच्छी लगी, ( यह तो ) कह दे तेरे प्रीति, तुझ से स्नेह रखने के कारण लोगों द्वारा लगाए हुए अपवादों की

विप तुल्य कथाओं को, हे प्रियतम सुजान ! मैं अमृत मानकर पीतो रहती हूँ ( अर्थात् आपके पीछे में लोकापवादो ( चवाग्रों की एक दम चिन्ता नहीं करती हूँ ) । ( अतः मैं तुम्हें से, तेरे प्रति अपने स्नेह की प्रगाढ़ता का आश्रय लेकर, अनुरोध करती हूँ कि तू ( मेरे ) प्राणों का अवलम्ब है इसलिये मुझे पिशासपाती होकर मार मत । ( यदि ऐसा किया तो अच्छा नहीं होगा ) । ( साधारण लोक व्यवहार में ) घनानन्द जी कहते हैं, कि यदि किसी को कोई प्रेम करता है वह तो उस प्रेम करने वाले को नहीं त्यागता । अर्थात् प्रिय प्रेम करने वाले की उपेक्षा करके उदासीन नहीं होता है, क्योंकि सभी जानते हैं आज तक किसी भी व्यक्ति ने प्रेमियों को मार कर प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की है । ( यदि तुम्हें मालूम हो तो कहो कि ) क्या किसी ने किसी अपने प्रेमियों को मारकर प्रतिष्ठा प्राप्त की है ? ( उत्तर है, नहीं ) अतः अन्तिम दो पक्तियों से अभिप्राय है कि जब किसी ने भी अपने प्रेमियों को आज तक विरह में मार कर ( दुःख पहुँचा कर ) प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की है, तो सुजान को भी निर्माही होकर निष्ठुर व्यवहार दिखाने पर किसी भी प्रकार यश प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः उसे निष्ठुरता का त्याग कर अपने प्रेमी या प्रेमिका के काँटों को दूर कर देना चाहिए । यही उसके लिए कीर्तिदायक एवं शोभन व्यापार होगा ।

लगी है लगनि प्यारे पगी है सुरति तोसों,

जगी है बिकलताई ढगी सी सदा रहौं ।

जियरा उड्यौ सो डोलै हियरा धक्यौई करै,

पियराई छाई तन, सियराई दौ दहौं ।

दूनों भयो जीवो अब सूनों सब जग दीसै,

दूनों दूनों दुख एक एक छिन मैं सहौं ।

रे तौ न लेखो, मोहि मारत परेखो महा, ॥ ३४ ॥

जान घन आनंद पै खोइयो लहा लहौ ॥ ३४ ॥

का अपनी विरह जन्य व्याकुलता का वर्णन करती हुई कहती है

हे प्रियतम ! मेरे मन में आपकी लगन लगी हुई है ( मुझे आप से प्रीति होगई है ) । ( इसलिए आपके विदेश चले जाने पर ) मे आपकी स्मृति में ही डूबी रहती हूँ ( मे तुम्हारी स्मृति में पगी हुई हूँ ) । ( अपनी इस स्थिति के कारण ) मेरे मन में विकलता जाग उठी है अर्थात् मुझे आराम नहीं मिलता है और मैं सदा किर्तव्य

विमूढ अथवा ( विकलता के कारण ) अवाक् सी बनी रहती हूँ । मेरा चित्त उड़ा उड़ा झूमता रहता है ( कभी स्थिर नहीं हो पाता ) छाती धड़कती रहती है, शरीर विवर्ण हो गया है । ( विरहजन्य कुशता के कारण शरीर पर पीलापन छा गया है ) मैं ठण्डी आग में जलती रहती हूँ । मेरे लिए अब जीवित रहना भी व्यर्थ हो गया है और ( आपके अभाव में ) समस्त ससार सूना सूना दिखाई पड़ता है । जो दुःख मैं सहन कर रही हूँ वह प्रतिक्षण में दूना होता जाता है । ( मैं तो इस प्रकार से अपना समय बिताती हूँ ) और तुम्हारे मन में ( मेरी उस दशा का ) कोई लेखा जोखा ही नहीं है । तुम्हारे मन में इसका कोई विचार न होने का मलाल ही अथवा पश्चाताप ही मुझे मारे डालता है । ( मैं तुम्हारे पीछे अपना सब कुछ खो चुकी हूँ । (इसलिए ) अत्यन्त आनन्ददायक सुजान से मुझे खोने का ही लाम प्राप्त हुआ है ( अर्थात् सुजान के प्रेम में फँसकर मैंने अपनी सारी बुद्धि बुद्धि खो दी है ) । आत्म विस्मृति के अतिरिक्त कोई अन्य लाम तुमसे मुझे नहीं मिला ।

अलंकार—‘सियराई दौ दहाँ’—विरोधाभास । ‘खोइवो लहा लहाँ’—विरोधाभास । दूनो दूनो, एक-एक—पुनरुक्ति प्रकाश

पूरा कवित्त मुहावरों के प्रयोग से चमक उठा है—लगनि लगना, सुरति पगना विकलता जगना, ठगी सी रहना, नियरा का उड़ा उड़ा सा डोलना, हृदय का धड़कना, आग में जलना, जीना ऊना हो जाना, संसार सूना दिखाई देना, दूना दूना दुख सहना, लेखा न होना, परेखा का मारना, लहा लेना आदि १२—१३ मुहावरों का प्रयोग एक ही कवित्त में बड़ी कुशलता पूर्वक किया गया है ।

विशेष—सियराई दौ दहाँ. जयशंकर प्रसाद ने भी अपनी ‘आँखें’ नामक पुस्तक में एक स्थल पर लिखा है ।

“शीतल ज्वाला जलती है  
ईंधन होता दग जल का  
> यह व्यर्थ साँस चल चल करके  
करती है काम अनल का ।”

बधिक तें सुजान ! रीति रावरी है  
जपत चुगौ दै फिरि निपट करौ

गुननि पकरि लै, निर्पेख करि छोरि देहु,  
 मरहि न जियै, महा विषम दया—छुरी ।  
 हौं न जानौं कौन धौं ही यामें सिद्धि स्वारथ की,  
 लखी क्यों परति प्यारे अंतर—कथा दुनी ।  
 कैसें आसा-द्रुम पै बसेरो सहै प्रान-खग,  
 ५-२१ चितक निकाईं घन आनंद नईं छुरी ॥३५॥

इस कवित्त में सुजान की प्रीति रीति अधिक की रीति से भी अधिक बुरी बताई गई हैं। अधिक पक्षियों को कष्ट कर चुगा कर पकड़ लेते हैं फिर पख तोड़ कर उन्हें समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार उन पक्षियों को कष्ट तो मिलता है परन्तु उनकी पीड़ा असह्य होती हुई भी अनन्त नहीं हो पाती। पर प्रियतम सुजान की प्रीति-रीति अनन्त पीड़ा दायक है। विरही इसी तर्क को लेकर कहता है—

हे सुजान ! आपकी रीति चिड़ीमार से भी बढ़कर है। ( पहिले ) कष्ट-कर चुगाकर इसके अनन्तर ( आप ) अत्यन्त बुरा ( व्यवहार करते हैं )। आपने पहिले अपने गुण रूपी जाल में प्रणयी को पकड़ कर फिर पंखों से रहित करके छोड़ दिया है, जिससे न तो वह मरों में गिना जाता है और न जीवितों में ही। ( अतः ) आप की दया की छुरी बड़ी ही विषम ( विलक्षण एवं भयकर ) है। [ साधारण अधिक पक्षी को पकड़ कर या तो मार डालता है या उसके पख तोड़कर अपने पास ही रख लेता है। परन्तु प्रियतम न तो मारते हैं और न पास ही रखते हैं, बल्कि उल्टे असहाय एवं असमर्थ करके छोड़ देते हैं। इसलिए प्रियतम सुजान ने जान से न मार कर जो दया दिखाई है वह मारने से भी अधिक कष्टकर है। ]

मुझे यह ज्ञात नहीं है कि इसमें आपके किम स्वार्थ की सिद्धि होती है ? हे प्रियतम ! आपके हृदय में छिपी हुई गुप्त बात कैसे लक्षित हो सकती है ? ( आप जो ऐसी निष्ठुरता का व्यवहार कर रहे हैं, उससे आप अपना क्या स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, मैं नहीं जानता। आपके हृदय में छिपी हुई गुप्त बात मैं जान ही कैसे सकता हूँ )। अतः अब आशा रूपी वृत्त पर प्राण रूपी पक्षी बसेरा कैसे लिए रह सकते हैं, जबकि, धनानंद जी कहते हैं कि, नित्य नवीन सौन्दर्य-सजा ( प्राण-पक्षियों को पेंसाने का नया नया चारा ) एकत्र करके

आपकी उनको फँसाने की आदत है। अर्थात् यह आशा कैसे करूँ कि जिस दशा में पड़ा हूँ इसी में पड़ा रह सकूँगा )।

अलंकार—‘अधिक अधिक . . . . दया-छुरी’—सागरूपक की व्यञ्जना से पुष्ट व्यतिरेक अलंकार।

गुननि . . . . ( रस्ती, गुण ) श्लेष। आसा-द्रुम, प्रान-खग—रूपक

प्रिय की निष्ठुरता से दुखी होकर प्रेमिका द्वारा उसकी रीति को बुझ भला कहला कर कवियों ने प्रायः उसकी रीति को अधिक की रीति के समान या उससे भी बढ़कर कहलाया है। सूरदास ने एक स्थल पर लिखा है—

प्रीत करि दीन्ही गये छुरी ।

जैसे अधिक सुकाय कपट कन पीछे करत बुरी ॥

घनानंद जी ने स्वयं अन्यत्र लिखा है—

“अधिकौ सुधि लेत सुन्यौ हति कै

गति रावरी क्यों हू न बूझि परै ।”

मेरी जीव तोहि चाहै, तू न तनकौ उमाहै,

मीन जल कया है कि या हू तैं बिसेखियै ।

ता बिन सो मरै, छूटि परै, जड़ कहा बरै,

भरौ हों न मरौ जान ! हिये अवरेखियै ।

पलकौ विछोह-आगै, कलपौ अलप लागै,

विलपौ सदाई, नेकु तलफनि देखियै ।

सुनो जग हेरों के अमोही ! कहि काहि टेरों,

आनंद के घन ऐसी कौन लेखें लेखियै ॥३६॥

दुखी होकर विरहिणी कहती है—

मेरा हृदय तुझ से स्नेह करता है ( परन्तु उसके प्रतिदान में ) तू थोड़ी सी प्रेम की उमग नहीं दिखलाता । ( इस व्यवहार को देख कर पता नहीं चलता कि ) मेरा और तेरा स्नेह मीन और जल की प्रेम के अनुरूप है या उससे भी विशिष्ट है। ये केवारी मछली उस (जल) के बिना प्राण दे देती है और सारे कष्टों से छूट जाती है परन्तु वह जड़ (जल) उस (मछली) पर द्रवीभूत नहीं होता; परन्तु हे सुजान ! आप अपने हृदय में विचार तो कीजिए, मैं मरती भी नहीं हूँ

(वल्कि जैसे तैसे) दिन भरती रहती हूँ ! मुझे मृत्यु भी नहीं आती । आपके क्षणभर के वियोग के सामने एक कल्प भी (दीर्घ समय भी) छोटा जान पड़ता है अर्थात् आपके वियोग का एक क्षण कल्प से भी अधिक लगता है । मैं सदा ही विलखती रहती हूँ, मेरी इस तड़पन को तो देखो ? (अब तो) हे निर्मोही ! तेरे बिना मैं सारा ससार सूना देखती हूँ । तू ही कहदे, मैं किसको पुकारूँ ? हे आनन्द के घन प्रियतम ! इस प्रकार जीवन बिताने को, किस गिनती में गिना जाय (अर्थात् ऐसा जीवन व्यर्थ है ।)

विशेष—‘मीन जल कथा’ है कि या हूँ तो विलखियै—मछली जल के वियोग में प्राण त्याग देती है पर जल जड़ों का सा व्यवहार करता है और उस पर जल भी द्रवीभूत नहीं होता । इस प्रकार मीन और जल का प्रेम विषय-प्रेम है । परन्तु विरहणी को ‘मीन-जल कथा’ अपने प्रेम का उचित उपमान नहीं प्रतीत होती अतः वह कहती है हमारा प्रेम ‘मीन-जल’ कथा के ही सदृश है या इससे भी बढकर है । क्योंकि मीन का प्रियतम जल उसे प्यार नहीं करता और उसके वियोग दुःख को सहन न कर सकने के कारण वह स्वयं प्राण त्याग देती है । विरहणी के विषय में यह बात नहीं है । उसका प्रिय मीन के प्रिय की ही भाँति ही यद्यपि उस पर दूरता नहीं फिर भी वह मीन की भाँति कायर होकर प्राण त्याग नहीं करती और अनेक कष्ट भेलती हुई भी जीवन भरती रहती है ।

मीन और जल का प्रेमादर्श बहुत ही प्रसिद्ध और सर्व मान्य सा है । किन्तु घनानन्दजी उसे आदर्श प्रेम का प्रतीक स्वीकार नहीं करते । प्रेम मैं मर मिटना सम्भवतः उन्हें स्वीकार नहीं है । इसीलिए अनेक स्थलों पर उन्होंने मीन-जल के प्रेम को अपने प्रेम के सामने हीन कोटि का प्रतिपादित किया है यथा—

“हीन भएँ जल मीन अधीन, कहा कबु मो अकुलानि समानै ।

नीर सनेही कौँ लाय कलक, निरास है कायर त्यागत प्रानै ।”

अथवा

“मरिनो विसराम गनै वह तौ,  
यह वापुरो मीत तज्यौ तरसै ।

विद्युरे मिलै मीन - पतग - दसा,  
कहा मो जिय की गति कौँ परसै ।”

हूँ बॉट परी सुधि, रावरे भूलनि कैसें उराहनो दीजियै जू ।  
 अब तो सब सीस चढ़ाय लई जु कछु मन भाई सु कीजियै जू ।  
 घन आनंद जीवन प्रान सुजान ! तिहारियै खातन जीजियै जू ।  
 नित नीके रहौ तुम्हें चाह कहा पै असीस हमारियौ लीजियै जू ॥३७

प्रेमिका निरन्तर विरह-जन्य कष्टों को भेलते भेलते प्रियतम के न आने प  
 नेराशा-सभूत आत्म सन्तोष प्रगट करती हुई कहती है —

( जब स्मृति और विस्मृति का हमारे और तुम्हारे बीच में बँटवारा हुआ तब )  
 मेरी ओर ( तुम्हें ) याद करना और तुम्हारी ओर ( मुझे ) भूल जाना पड़ा । अतः  
 जेसके जो बॉट पड़ा वह उससे काम ले रहा है फिर मैं यदि तुम्हें उलाहना दू भी  
 तो कैसे दूँ ? अब तो जो कुछ मेरे हिस्से में पड़ा है उसे शिरोधार्य कर ही लिया है ।  
 तुम्हें जो कुछ भी अच्छा लगे वह करो ( मुझे कोई आपत्ति नहीं ) ( परन्तु एक  
 बात अवश्य कहूँगी ) हे अत्यन्त आनंद को देने वाले, एव मेरे प्राणों के जीवन,  
 प्रियतम सुजान ! मैं केवल तुम्हारी चर्चा करके ही जीवित रहती हूँ ( अब अन्य  
 किसी की चर्चा में मेरी अभिरुचि नहीं है ) । तुम्हें तो मेरी उत्कंठा नहीं है पर मैं  
 तुम्हारी निरन्तर मंगलकामना करती रहती हूँ ।

एकै आस एकै विसवास प्रान गहैं वास,  
 और पहचानि इन्हैं रही काहूँ सों न है ।

चातिक लौं चाहै घन आनंद तिहारी ओर,  
 आठौ जाम नाम लै, विसारि दीनी मौन है ।

जीवन आधार जान सुनियै पुकार नेकु,  
 अनाकानी देवो दैया घाय कैसे लौन है ।

नेह-निधि प्यारे गुन-भारे ह्वै न रूखे हूजै,  
 ऐसो तुम करौ तो विचारन-कैं कौन है ॥३८॥

प्रेमिका चातक को प्रेम का उपमान बनाकर अपने प्रेम की अनन्यता  
 प्रतिपादित करती हुई प्रिय का ध्यान अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर रही है ।  
 वह कहती है—

मेरे इन प्राणों को अन्य किसी ( व्यक्ति ) से पहचान नहीं रही है । वे एक  
 ही आशा और एक ही विश्वास ( के बल ) पर अपनी स्थिति को संभाले हुए हैं ।



(यदि उनके आने की आशा न होनी तो अभी तक कभी के वे निकल गए होते ।) ये आठौं याम अर्थात् दिन-रात ( चौबीस घंटे ) हे आनंद देने वाले मेघ के सदृश अत्यन्त आनन्ददायक प्रियतम ! तुम्हारा नाम ले लेकर तुम्हारी ओर ( ही ) प्रेम की चाह के वशीभूत होकर चातक पक्षी की भोंति देखते रहते हैं । ( अब इन्होंने ) चुप रहना भी छोड़ दिया है । हे मेरे जीवन के ( एकमात्र ) अमलव सुजान ! मेरी पुकार को जरा सुनो । ( उसे सुनने में ) आनाकानी करना ( पुकार पर ध्यान न देना ) ( मेरे लिए ) घाव के ऊपर नमक ( छिड़कने ) की भोंति ( कष्टदायक ) है । हे भारी गुणों वाले स्नेह ( प्रेम, तेल ) के सागर प्रियतम ! तुम ( स्नेह-निधि होकर भी ) मुझसे रुद्ध मत बनो अथवा मुझसे उदासीन मत हो । यदि तुम ही ऐसा करने लगे ( यदि तुम्हीं रुद्ध बनकर मुझसे उदासीन होगए ) तो ( फिर ) इन बेचारे प्राणों के लिए ( इस ससार में ) अन्य कौनसा अवलव रह जायगा । ( अर्थात् आपके अतिरिक्त इन प्राणों का और कोई सहारा नहीं है । यदि आप भी मुझसे रुद्ध होगए तो इनको सहारा देने वाला और कोई भी नहीं रह जाता है ।)

प्रस्तुत कवित्त की प्रथम चार पंक्तियों में प्रेमी प्रिय के प्रति अपने प्रेम की उपमा चातक और मेघ के प्रेम से देता है । यह कई स्थलों पर कहा जा चुका है कि घनानंद जी अपना प्रेमादर्श 'विछुरनि मीन की औ' मिलनि पतंग की' नहीं मानते हैं । कई स्थलों पर उन्होंने अपने मिलन और विछोह की स्थितियों की तुलना में पतंग और मीन की स्थितियों को हीन कोटि का प्रतिपादित किया है । सम्भवतः तुलसी की भोंति ही घनानंद भी अपने प्रेम का आदर्श चातक और मेघ का प्रेम मानते थे । तुलसीदासजी के निम्न दोहे से इस कवित्त की प्रथम चार पंक्तियों को मिलाइए—

“एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास ।

एक राम धनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥”

अलंकार—‘चातक लौ’—उपमा

‘चातक लौं चारै .. ...विसारि दीनी मौन है ।’

इन पंक्तियों में सावयव रूपक की व्यञ्जना है ।

जिस प्रकार चातक मेघों की ओर प्रेमातिरेक में देखता रहता है, उसी प्रकार प्रेमी प्रिय की ओर देखता रहता है । चातक आठौं याम ( चौबीस घंटे ) नाम ले

जेकर 'पियु पियु' करता रहता है, प्रेमी भी दिन रात प्रिय का नाम स्मरण करता रहता है। निरन्तर पुकार रहने से चातक की मौन छूट जाती है इसी प्रकार प्रलापावस्था में प्रेमी का भी मौन बिसर जाता है। इस लिए इन दोनों पक्तियों में उपमा-पुष्ट सागरूपक की व्यंजना है।

घन आनंद—[१, आनंद दायक मेघ (२) अत्यन्त आनंद देने वाले प्रियतम (३) कवि का नाम ] श्लेष अलंकार।

नेह—[ प्रेम, तेल ] तथा रुखे [ रुद्ध, उदासीन ] में श्लेष अलंकार।

वास गहना ( गहँ वास ), किसी से पहचान ( पहिचान इन्हें रही काहूँ सो न है ), नाम लेना ( नाम लै ), मौन बिसार देना ( बिसारि दीनी मौन है ), पुकार पुनना ( सुनियै पुकार ), आनाकानी देना ( आनाकानी दैत्री ), घाव पर नमक ( घाय कैसो लौन है ) रुखे होना ( रुखे हूँ ) तथा ऐसा करना ( ऐसो तुम करौ ) आदि अनेक मुहावरे पूरे पद में गुंथे पड़े हैं।

घनानंद कवित्त की पाद टिप्पणी में इस पद की अन्तिम पक्ति पर नोट लिखते हुए टिप्पणीकार ने “विचारन कै कौन है” वाक्यांश का अर्थ “इन बेचारे चातकों के लिए और कौन सहारा रह गया है” किया है। इस अर्थ में “विचारन कै” पद ‘चातक’ का विशेषण मान लिया गया है। परन्तु पूरे पद का अर्थ करते समय ‘विचारन’ शब्द ‘चातक’ का विशेषण ने होकर ‘प्राण’ का विशेषण मालूम पड़ता है। अतः उक्त पक्ति का अर्थ ‘इन बेचारे चातकों के लिए और कौन सहारा रह गया है। न होकर ‘इन बेचारे प्राणों के लिए और कौन सहारा रह गया है’ होना चाहिए। व्याकरण की दृष्टि से ‘चातक’ के लिए ‘विचारन’ न होकर विचारे ( एक वचन ) विशेषण होना चाहिए था। प्रयोग में ‘प्राण’ का व्यवहार बहु वचनान्त ही होगया है।

मन जैसे कछु तुम्हें चाहत है सु बखानियै कैसे सुजान ही ही।

इन प्राणनि एक सदा गति रावरे, बावरे सौँ लगियै नित सौँ।

शुधि औ सुधि नैननि बैननि मैं करि वास निरंतर अंतर गौँ।

उधरौ जग छाये रहे, घन आनंद चातिक ल्योँ तकियै अच सौँ ॥३६॥

नायिका अपने प्रेम की अनन्यता प्रतिपादित करती हुई कहती है.—

हे प्रियतम सुजान ! मेरा मन जिस प्रकार आप से स्नेह करता है उसका (मैं) कैसे वर्णन करूँ ? अर्थात् मैं उसका वर्णन नहीं कर सकती, वह वर्णनातीत है और चूँकि आप स्वयं ही सुजान [ भली भौति समझने वाले ! ] अथवा चतुर हैं इसलिए आप स्वयं ही मेरे हृदय के प्रेम को समझ सकते हैं। मैं तो केवल इतना भर कहना चाहती हूँ कि ( मेरे इन ) प्राणों के लिए आप ही की शरण है और उन्हें पागल प्राणीयों की भौति आप के प्रति स्नेह की लगन नित्य प्रति लगी रहती है ( अर्थात् पागलों की भौति ये आप को ही याद करते रहते हैं )। ( मेरा आनंद एवं उल्लास से भरा हुआ ) मन बुद्धि, स्मृति, नेत्र और वचनों में (क्रमशः) निवास करता हुआ अब अन्तःस्थल को चला गया है। ( उसका सारा उल्लास समाप्त होगया है, वह उदास होगया है ) मेरे सामने से सारा स सार हट गया और मन में आप के आ बसने से मेरी सारी वृत्तियों स सार से विमुख गई हैं। परिणामतः जगत् अब मेरे सामने रहा ही नहीं है। केवल आप हो आप रह गए हैं। आप आनन्द देने वाले मेवों के समान मेरे सामने छा रहे हैं और आपसे अनन्य प्रेम होने के कारण मैं चातक पक्षी की भौति आपको ही देखती रहती हूँ।

विशेष—“बुधि औ सुधि नैननि, बैननि मे”—

नायिका का मन, बुद्धि, स्मृति, नेत्र और वचनों में निवास करता हुआ अब अन्तर्गत को ही चला गया है। अर्थात् प्रियतम के प्रति प्रेम की बात सबसे पहिले प्रेमिका ने बुद्धि से सोची इसके बाद स्मृति के बल पर वह प्रेम जीवित रहा, फिर प्रियतम को उसने नेत्रों में बसा लिया, तदनन्तर प्रिय का गुण गान वाणी द्वारा करती रही। इस प्रकार उसका ( प्रेमिका का ) मन संसार से फिर गया, उदास हो गया।

‘अन्तर गौ’—ऊपर सर्वथा का अर्थ स्पष्ट करते हुए, द्वितीय पक्ति के अर्थ में ‘अन्तर गौ’ का अर्थ मन चला गया अर्थात् उदाम होगया लिया गया है। इस के अतिरिक्त इसका निम्न अर्थ भी हो सकता है—

‘अन्तर गौ’ अर्थात् भेद मिट गया, प्रेम की वह चरमावस्था आगई, जहाँ पर प्रिय और प्रियतमा का भेद भी समाप्त होता है। ज्ञान की चरमावधि में जो स्थिति ज्ञाता और ज्ञेय की होना है वही स्थिति प्रेम के क्षेत्र में, प्रेम के चरमोत्कर्ष पर,

प्रेमी और प्रेमिका को होगई। प्रेमिका के प्राणों ने बुद्धि, स्मृति, नेत्र और वाणी के क्रमशः निवास कर के अब प्रेमाधिक्य में प्रेमी और प्रेमिका के भेद को सिद्ध गला है।

अथवा आप का स्वरूप मेरी बुद्धि, स्मृति, नेत्र और वाणी में निरन्तर निवास करके, मेरे अन्तरात्म में चला गया है। आपके स्वरूप का हृदय में साक्षात्कार होजाने पर मेरे सामने अब सारे ससार की कलई खुल गई है। उसका सारा रहस्य मैं समझ गई हूँ। अब तो हे प्रियतम ! मेरे सामने आपही आनन्ददायक भोग के समान छाए रहते हैं और मैं चातक पत्नी की भाँति आपको ही ताकती रहती हूँ।

अलंकार—‘सुजान ही हो’ (प्रिय के नाम ‘सुजान’ को उनके विशेषण के समान काम में लाया गया है जो साभिप्राय भी है)—परिकराकुर अलंकार। सुजान—(चतुर, भलीभाँति समझने वाले, प्रिय का नाम)—श्लेष अलंकार। बावरे लौं—उपमा। ‘उधरो जग छाया रहे धनआनँद’—विरोध अलंकार। चातक त्यों—उपमा अलंकार। धनआनँद—श्लेष अलंकार।

अन्तर मैं वाली पै प्रवासी को सो अन्तर है,

मेरी न सुनत दैया आपनीयौ ना कहौ ।

लोचननि तारे हैं सुभावो सब सुझौ नाहिं,

बूझी न परति, ऐसे सोचनि कहा दहौ ।

हौ तौ जानराय, जाने जाहु न अजान यातें,

आनन्द के घन छाँय छाँय उघरे रहौ ।

सूरति मया की हा हा सूरति दिखैयै नेकु,

हमें खोय या विधि हो कौन धौ लहा लहौ ॥४०॥

उन्माद की अवस्था में नायिका कहती है :—

तुम मेरे हृदय में निवास करते हो ( फिर भी मैं तुम्हें देख नहीं पाती ) । अतः समीपस्थ या दृढस्थ होने पर भी ( मुझमें और तुममें ) किसी परदेश गए हुए ( व्यक्ति ) जैसी दूरी है । ( इसीलिए ) तुम मेरी बात नहीं सुनते । ( और सबसे बड़े खेद की बात तो यह है कि ) अपनी बात भी मुझसे नहीं कहते । मेरी समझ में नहीं आता कि तुम मुझे ऐसी चिन्ताओं में क्यों जलाते हो ? नेत्रों की पुतलियों द्वारा सब कुछ मुझे दिखाते हो, किन्तु स्वयं कभी दिखाई नहीं देते ।

यद्यपि तुम्हारा नाम 'जानराय' है अर्थात् तुम जाने जा सकते हो, जेय हो खोजने पर मिल सकते हो, परन्तु मिलते कभी नहीं । 'जानराय' से ज्ञानी का भी तात्पर्य लिया जा सकता है । पर तुम तो जानी न होकर अज्ञानी हो । तुम्हारा नाम तुम्हारे गुणों के अनुकूल नहीं है ( अर्थात् 'अखिन के अन्धे नाम नैनसुख' वाली कहावत तुम पर पूर्ण रूपेण चरितार्थ होती है ), तुम्हारी खोज करने पर भी तुम्हारा पता नहीं चलता । हे अत्यन्त आनन्द देने वाले मेघों के सदृश प्रियतम ! तुम ससार पर अपना माया जाल फैला कर स्वयं उस माया से मुक्त रहते हो, तुम मेघों के समान ससार पर छा छाकर ससार के प्राणिश्रो को अपने लोभ में फँसा लेते हो, किन्तु जिस प्रकार मेघ अत्यन्त हितकर होने पर भी बन्बनहीन होते हैं, उसी प्रकार तुम भी ससार की माया से नहीं डँबते । तुम मेरे हृदय में छा छाकर उसमें अपना अनन्य स्थान बनाकर, स्वयं मेरे हृदय के आकर्षण से पृथक् रहते हो । मेरे हृदय में बस कर स्वयं मुझसे उदासीन बने रहते हो । ( किन्तु मैं प्रार्थना करती हूँ, हाहा ! खाती हूँ कि हे प्रेम की मूर्ति ! तुम मुझे तनिक अपनी सुन्दर छवि दिखा जाओ, मुझे आकर दर्शन दे जाओ । पता नहीं, हमें खोकर अर्थात् हमारा जीवन नष्ट करके अथवा हमें अपनी खोज में भटका कर, तुम कौन सा लाभ प्राप्त करते हो ! ( अर्थात् हमें पता नहीं कि तुम्हें इस प्रकार के व्यवहार से कौन सा लाभ होता है । )

अलंकार—अन्तर, अन्तर—यमक

जानराय चतुरो में श्रेष्ठ, प्रिय का नाम, जेय (ब्रह्म) } श्लेष अलंकार  
अज्ञान—मूर्ख, नामानुकूल गुणों से रहित, अज्ञात }  
'आनंद के घन छाये छाये उधरे रहौ'—विरोधाभास

छाये छाये—पुनरुक्ति प्रकाश ।

जानराय—परिकराकुर ।

न सुनना, न कहना, न सूझना, लहा लेना—मुहावरो का प्रयोग ।

“ लोचननि तारे द्वै सुभायौ सब सूझे नहीं ”

मिहारी के निम्न दोहे की अन्तिम पंक्ति इस पंक्ति के भाव के समान ही है—

“ जगत जनायो जेहि समल, सो हरि जान्यौ नाहि ।

ज्यौ अखनि सब देखिण, अखि न देखी जाहि ॥”

कितको दरिगो वह ढार अहो जिहि मो तन आँखिन डोरत हे ।  
 अरसानि गही उहि वानि कछु सरसानि सों आनि निहोरत हे ॥  
 घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ तव यौं सब भौतिन भोरत हे ।  
 मन माहि जौ तोरन ही, तौ कहौ बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे ॥४१॥

प्रिय की मनोवृत्ति में परिवर्तन का अनुभव करके प्रेमिका उसे उपालम्भ देती हुई कहती है कि :

तुम्हारा मेरी और वह ढलाव (भुकाव) जिसके कारण तुम मेरी ओर अपनी आँखें ढुलकाते थे अर्थात् मुझ पर कृपा दृष्टि बनाए रखते थे किस तरफ जा ढला ? तुम्हारी उस 'वानि' (आदत) ने जिसके बशीमृत होकर तुम सरसता के साथ आकर मेरी विनती किया करते थे, क्या कुछ आलस्य ग्रहण कर लिया है ? अत्यन्त आनन्द देने वाले प्रियतम सुजान ! तब तुम (उपर्युक्त) सभी प्रकार की चेष्टाओं के दर्शन से मुझे ठगते थे अथवा भुलावा देते थे । हे विश्वासघाती, यदि तुम्हारे मन में प्रेम तोड़ने की (इच्छा पहिले से ही) थी तो फिर तुम तब स्नेह का सम्बन्ध क्यों जोड़ रहे थे ? ( यदि तुम्हें प्रेम भाव बनाए नहीं रखना था तो फिर पहिले ही प्रेम-सम्बन्ध क्यों स्थापित कर रहे थे । तब तो तुम्हें उसका सूत्रपात ही नहीं करना था ।

अरसानि गही उहि वानि:—विशेषण विपर्यय ।

घन आनंद प्यारे सुजान ! सुनौ जिहि भौतिन हौं दुख-सूल सहैं ।  
 नहि आवनि-आधि न रावरी आस, इते पर एकसी वाट चहौं ॥  
 यह देख अकारन मेरी दशा कोऊ बूझै तौ उत्तर कौन कहौं ।  
 जिय नेकु विचारि कै देहु बताय हहा पिय ! दूरितें पाँय गहौं ॥४२॥

प्रेमिका निरन्तर प्रिय का पथ हेरती रहती है किन्तु प्रिय कब आया इसका उसे कोई पता नहीं । उसकी दशा को देखकर लोकापवाद फैल सकता है । परन्तु लोगो के मुह को बन्द करने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं है । अपनी इसी विकलता को हृदय में छिपाए हुए वह प्रिय से उत्तर पूछना चाहती है । अतः वह कहती है कि :—

हे अत्यन्त आनन्द देने वाले प्रियतम सुजान ! जिस प्रकार मैं दुःख की पीड़ा को सहन करती हूँ, उसे सुनो । यद्यपि आपके आने की कोई अवधि नहीं है (अर्थात्

कोई ऐसा निश्चित काल नहीं, जिसके व्यतीत हो जाने पर आप आजायें ) और मुझे आपसे यह आशा ही है कि आप आ ही जायेंगे पर फिर भी मैं सदैव आप रास्ता देखती रहती हूँ । मेरी आकांक्षा प्रतीक्षा की स्थिति को देखकर यदि कं पृछे कि तू क्यों उनकी प्रतीक्षा करती रहती है, तो मैं क्या उत्तर दूँ ।

हे प्रियतम ! मैं हा हा खाती हूँ, तुम अपने हृदय में थोड़ा सा विचार कर ( मेरे प्रश्न का ) उत्तर बता दो । ( तुम मेरे समीप नहीं हो अतः ) मैं दूर से तुम्हारे पैर पकड़ती हूँ ।

जिन ओखिन रूप-चिन्हारि भई तिनको नित नौंद ही जागनि है ।  
हित-पीर सों पूरित जो हियरा, फिरि ताहि कहौ कहा लागनि है ।  
घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ जियराहि सदा दुख - दागनि है ।  
सुख में मुखचंद बिना निरखे नख तेँ सिख लों विष पागनि है ॥४  
प्रेमिका कहती है कि.—

जिन नेत्रों से ( मुझे प्रिय के ) रूप का परिचय मिला है, उनका जागना सदा सोना ही है । [ अर्थात् वे नेत्र जागते समय भी बंद ही बने रहते हैं । उन ध्यान में प्रेमिका इतनी तल्लीन हो जाती है कि जागते रहने पर भी उसकी से की सी अवस्था बनी रहती है । विचारों के तीव्र सवर्ष के कारण सब कुछ देखती हुई भी वह कुछ नहीं देख पाती ] । उसे उन नेत्रों को बंद ही किए रह पड़ता है । जो हृदय प्रेम की पीड़ा से परिपूर्ण है, वह फिर अन्यत्र कहीं लग सका है ? अर्थात् कहीं नहीं लग सकता है । वह किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु से प्रेम नहीं कर सकता । अतः हे अत्यन्त आनंद देने वाले प्रियतम सुजान ! ( मेरे ) इस हृदय को सदा ही दुःख में जलना है । तुम्हारा सुप्त-युक्त चंद्र रूपी मुख बिना देखे मुझे नख से चोटी तक विष में ही लिपट जाना है ( अर्थात् आपके वियोग में मेरा सारा शरीर विष पीड़ा सा अनुभव करता रहेगा ) ।

पूरे सवैये का साराश यह है कि वियोग काल में शरीर के अवयवों की व्यवस्था उलट गई है । ओखों ने जागना त्याग कर सदा सोते रहना ही स्वीकार कर लिया है । हृदय सदा दुःख से जलता ही रहता है । प्रेम के एकनिष्ठ होने से उसकी स्थिति और भी दयनीय हो गई है । प्रेम की पीड़ा उसमें सदा भरी रहती है । दूसरी जगह मन लग जाने पर उसका कण्ट कुछ दूर हो सकता या परन्तु

उसके लिये अन्य कोई ठिकाना ही नहीं है। अतः इस वियोग की अवस्था में प्रेमिका का सारा शरीर नख से लेकर चोटी तक विष-पीड़ा से व्याप्त हो गया है।

घर बन बीथिन में जित तित तुम्हें देखों,

इते हूँ पै जान ! भई नई विरहा मई ।

विषय उद्वेग — आगि लपटे अंतर लागें,

कैसे कहूँ जैसे कहूँ तुचनि महा तई

फूटि फटि टुक टुक है कै उड़ जाये हियो,

बचिबो अचभो, मीचौ निदर करै गई

आनद के घन लखे अनलखे दुहु ओर,

वई मारी हारी हम आप हौ निरदई ॥४४॥

उन्माद की अवस्था में विरहिणी प्रलाप करती है :—

हे सुजान ! घर में, वन में, गलियों में, और यत्र तत्र सर्वत्र मैं तुम्हारे ही दर्शन करती हूँ। तुम्हीं मुझे हर वस्तु में व्याप्त दिखाई देते हो। फिर भी, हर जगह तुम्हें देखने पर भी, मिलन सुख का अनुभव किये बिना मैं एक नए प्रकार की विरहिणी हो गई हूँ (जो कि प्रिय को हर स्थल पर देखती हुई भी उसके वियोगानल में जलती रहती है)। प्रिय के वियोग के कारण विषम उद्वेग की अग्नि की जो लपटें हृदय में लगती हैं उनके भीषण ताप से मैं जिस प्रकार से तपाई गई हूँ, उसका वर्णन मैं कैसे करूँ ? अर्थात् उस ताप का मैं वर्णन करने में असमर्थ हूँ। वह ताप बड़ा हो भीषण है और यह भीषणता अक्रयनीय है। उससे मेरा किसी भी प्रकार उद्धार नहीं हो सकता। उस ताप में पड़ कर यह हृदय फूट फूट कर और टुकड़े टुकड़े हो कर उड़ जायगा। उसका कहीं पता भी नहीं चलेगा। वचना तो किसी प्रकार समझ ही नहीं है। यदि बच जाये तो आश्चर्य की ही बात होगी। अर्थात् मेरा मरना एकदम निश्चित है। फिर भी मैं जो बची हुई हूँ उसका कारण यह है कि मृत्यु भी मेरा निरादर करके चली गई है। उसने भी मुझे त्याग दिया है। [ बच जाना आश्चर्य की बात थी पर यहाँ तो मृत्यु भी छोड़कर चली गई। मृत्यु पीड़ा सब पीड़ाओं से अधिक भीषण होती है किन्तु मेरी वियोग पीड़ा मरने से भी बढ़कर भयकर है ! ]



हे अत्यन्त आनन्द देने वाले प्रिय ! इधर तो मैं तुम्हें देखने पर भी और न देखने पर भी ( सयोग में भी और वियोग में भी ) दोनों ही अवस्थाओं में अपना दोनों ही प्रकार से, दैव की मारी हुई या हतभाग्य एव हैरान हूँ (और उधर) तुम ( दैव के शासन से परे अथवा ) दयाहीन हो, जो मेरी ऐसी दयनीय स्थिति को जान कर भी मेरा उद्धार नहीं करते ।

पीछे कई पदों की टिप्पणी में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि घनानन्द जी प्रधानतः वियोग प्रधान वृत्ति के कवि हैं । इसीलिये उन्हें विरह वर्णन में जितनी सफलता मिली है, सयोग वर्णन में उतनी नहीं । वस्तुतः वियोग-वर्णन की तुलना में उनका सयोग-वर्णन परिमाण में कम और कोटि में हीन है । यहाँ एक बात पर विशेष ध्यान देना है । घनानन्द जी की कविता में सयोग-काल में भी विरहानुभूति का अस्तित्व रहता है । उनका विरह वर्णन सयोग और वियोग में दोनों की छोरों को छूता हुआ दिखाई पड़ता है । उनका सयोग वर्णन सोलह आने सयोग नहीं है । घनानन्द की यह विरह-भावना मुसलमान सूफी कवियों की विरह-भावना से बहुत अधिक साम्य रखती है, जिनमें विरह, अनन्त न होने पर भी (क्योंकि 'हाल' वी अवस्था में साधक परम ज्योति का साक्षात्कार कर लेता है) जीवन में एक बृहद् ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । प्रस्तुत कवित्त की प्रथम दो पक्तियों में भी—

“घर वन बीधिन मैं जित तित तुम्हें देखौं,  
इते हूँ पै जान ! भई नई विरहामई ।”

इसी भावना का संकेत मिलता है ।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है । घनानन्दजी ने अन्य कवियों व भक्ति अपनी नायिका के विरह ताप से न तो 'नदी नद नदीशन के नीरन' की भावनाकर 'ग्रन्धर' से ऊँची चढ़ाने की दूनकी होंकी है और न सरोवर के सदृश हृद को टुक टुक होने ही दिखाया है । तात्पर्य यह है कि उन्होंने विरह वर्णन में दूर व सूक्ष्म अथवा ऊहा से काम अधिक नहीं लिया है, हालांकि उनकी प्रेमिका के हृद में विषम उद्वेग की अग्नि की लपटों का ताप साधारण नहीं है । उनकी प्रेमिका व हृदय भी "कृति पति टुक टुक है कै" उड़ जा सकता है, यहाँ तक कि या वह जोड़ित वच जाय तो एक आश्चर्य की ही बात होगी । पर तु अपनी वच विदग्धता से, मृत्यु के द्वारा प्रेमिका का निरादर करके अथात् मृत्यु पीड़ा से ।

मिका की विरह पीड़ा को अधिक व्यञ्जित करके, उन्होंने उक्त प्रकार के कवियों की ऊहा की शरण नहीं ली है।

## परिदेवना

जासों प्रीति ताहि निरुदाई सों निपट नेह,  
कैसे करि जिय की जरनि सो जताइयै ।  
महा निरदई, दई कैसे कै जिवाऊ जीव,  
वेदन की बड़वारि कहों लौं दुराइयै ।  
दुख को बखान करिबे कों रसना कै होति,  
एपै कहू वाको मुख देखन न पाइयै ।  
रैन दिन चैन को न लेस कहू पैयै, भाग  
आपने ही ऐसे, दोस काहि धों लगाइयै ॥४५॥

इस कवित्त में वियोगिनी नायिका अपने प्रति नायक के द्वारा किए गए अकारण निष्ठुर व्यवहार पर लोभ प्रगट करती हुई, अपने भाग्य को कोसती है। वह प्रेम की उस उच्च मनोभूमि पर आ चुकी है जहाँ पर प्रिय का कटु व्यवहार, निष्ठुरता एवं उपेक्षा करने की 'बानि' आदि सभी बातें अपने ही पक्ष को लेकर निन्दनीय हैं। सब कुछ होने पर भी वह अपने प्रिय के महत्त्व को भूल नहीं पाती। बुरा खोबने जाती है किन्तु कबीर की वचनावली के अनुसार उसे दुःख कोई नहीं मिलता। वेदना का प्रकोप बढ़ता जाता है, दुःख का वर्णन करने में जिह्वा असमर्थ हो जाती है, फिर भी प्रिय अपना मुख नहीं दिखाता। पर नायिका नायक पर दोषारोपण नहीं करती। वह नायक में गुण ही गुण पाती है और अपने या अपने प्रणय के लघुत्व का आभास पाकर अपने भाग्य को ही दोष देने लगती है। प्रेम की इस उदात्त रूप की भावात्मक व्याख्या यहाँ हुई है। नायिका के मन में उद्वेग उठ रहा है, वह कहती है कि—

किस प्रकार से अपने हृदय की जलन को प्रगट किया जाय ? मुझे जिस से प्रेम है उसे ( नायक को ) निष्ठुरता से अत्यन्त प्रेम है। ( अर्थात् वैसा विरोध है कि मैं जिससे प्रेम करती हूँ वह मुझसे विरक्त है ) किन्तु केवल इसलिए मैं यह नहीं कह सकती कि उसका हृदय स्नेह-रहित है। उसे भी किसी से प्यार है,

लेकिन उसका यह अत्यन्त प्रिय पात्र है कौन ? . क्या निदुराई ? तो यह मेरे लिये और भी दुख की बात है । मुझे सौतिया ढाह जो होगा । अतः कैसे अपने हृदय की आशा को प्रगट कर पाऊँ । वह केवल निदुराई से प्रेम हो नहीं करता स्वयं भी बहुत निर्दयी है । हे विवि ! अब (उसकी इस निदुराई से प्रेम करने की कर्तव्य तथा परले सिरे के निर्दयी होने की 'वानि' के देखकर ) अपने प्राणों को कैसे जीवित रखूँ ( अर्थात् अब तो मर जाना ही श्रेयस्कर है और नहीं तो ) यह वेदना ( पल पल पर ) बढ़ती चली जा रही है ( न्यून थी तब तो छिपी रही परन्तु अब कहाँ तक छिपाई जाय ) उसे छिपा रखना अब आसान कार्य नहीं रह गया है ( और तो और ) दुख का यथा तथा वर्णन करने के लिए यदि जिह्वा समर्थ होती तब तो एक बात भी थी, उस दशा में कुछ न कुछ वेदना को व्यक्त करता भी, किन्तु वेदना के आधिक्य के कारण जिह्वा मौनावलम्बन ले चुकी है अतः अपना कार्य करने में असमर्थ है ) इतने पर भी निष्ठुर प्रिय के मुख का दर्शन कभी नहीं होता । ( और परिणाम स्वरूप ) दिन रात ( किसी भी समय ) किसी भी स्थान पर, आराम का अंश मात्र भी नहीं मिलता । ( पता नहीं इसमें दोष उस प्रिय का है अथवा अपना भाग्य ही ऐसा है ( जिसमें कष्ट उठाना ही लिखा हो ) । कुछ समझ में नहीं आता कि किसे दोष लगाया जाए ।

इस पद में एक भोली भाली विरहिणी की अन्तर्दशा का स्वाभाविक चित्रण हुआ है । शैली का विशेष चमत्कारिक प्रयोग न होने पर भी शब्दावली अभिप्रेत अर्थ को रसात्मकता के साथ प्रगट करने में पूर्ण समर्थ है । विरोध-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, घनानन्द जी की विशेष प्रवृत्ति है, जिसकी ओर संकेत करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एक स्थल पर लिखा है “विरोधाभास के अधिक प्रयोग से घनानन्द की सारी रचना भरी पड़ी है । साहसपूर्वक कहा जा सकता है कि जिस पुस्तक में कहीं भी यह प्रवृत्ति न दिखाई दे उसे देखते घनानन्द की कृति से पृथक् किया जा सकता है और जहाँ यह प्रवृत्ति दिखाई दे उसे निस्संकोच इनकी कृति घोषित किया जा सकता है ।” इस पद में “ताहि निदुराई सो निपट नेह” में सुन्दर विरोध है । इसके अतिरिक्त ‘निरदई’ और ‘दई’ में यमक अलंकार है । “जिय की जरनि जताना” ‘जीन

‘वाना’ ‘बढ़वारि दुखाना’ ‘दुख का बखान करना’ ‘मुख न देख पाना’ ‘चैन का स न पाना’ ‘ऐसे ही भाग्य होना’ ‘दोष लगाना’ आदि अनेक मुहाविरें पूरे पद दृष्ट से उभर गुंथे पड़े हैं ।

तब हँ सहाय हाय कैसेँ धौँ सुहाई ऐसी,  
 सब सुख संग लै बिछोह-दुख दै चले ।  
 सीँचे रस-रंग अंग अंगनि अनंग सीँपि,  
 अंतर मै विषम विषाद-वेलि बै चले ।  
 क्यों धौँ ये निगोड़े प्रान जान घन आनंद के,  
 २५१५ गौहन न लागे जब वे करि बिजै चले ।  
 अति ही अधीर भई पीर-भीर घेरि लई,  
 हेली मन भावन अकेली मोहिँ कै चले ॥४६॥

प्रेमिका अपनी सखी के सामने प्रिय के द्वारा किए गए प्रेम और फिर निष्ठुरता दिखाकर वियोगाग्नि में जलता छोड़ जाने के दुख को प्रगट करती हुई प्राणों को उनके जाने के साथ ही साथ न निकल जाने पर कोसती हुई, अपनी दुःख कथा कहती है—

जब मैं निराश्रित थी तब उन्होंने मुझे उबार लिया, सत्य पर ले आए, मेरी सहायता की और प्रेम में सहायता देने वाले बने । किन्तु पता नहीं अब क्यों उसी प्रिय को ऐसी बातें अच्छी लगने लगीं जो मेरे सारे ( सयोग ) सुखों को अपने साथ लेकर (अर्थात् मुझे समस्त सुखों से वंचित करके) वियोग का दुःख देकर चले गए । जिन अंगों को सयोगकाल में उन्होंने अपने प्रेम के रंग से सींचा था उन्हें ही कामदेव को सौंप कर (अर्थात् कामाग्नि में जलने को छोड़कर) मेरे हृदय में कष्टदायी विषम विषाद रूपी लता को बो कर चले गए । [ विषाद वेलि बै चले से तात्पर्य यह है कि विषाद का अंकुर डालकर वे चले गए और यह अंकुर ऐसा है जो बढ़ता ही रहेगा ] (जब वे उसे निस्सहाय एवं दुःखी बनाकर इस अवस्था में छोड़ गए तो प्रेमिका अपने प्राणों को कोसती हुई पश्चाताप प्रगट करती है कि) पता नहीं कि (सुख को देखने के लिए) ये निगोड़े प्राण अत्यन्त आनंद देने वाले प्रिय सुखान के साथ ही साथ क्यों नहीं चल दिए । निष्ठुर प्राण निकल ही क्यों

न गए ? जब वे हृदय पर विजय प्राप्त करके, मेरे हृदय को अपने वश में करके, यहाँ से चल दिए थे । तब तो प्राण निकले नहीं, अब रोने से क्या होता है ? वे तो अब चले ही गए और (उनके जाने से) मैं अत्यन्त व्याकुल होगई हूँ, धैर्य जाता रहा है और वेदना की राशि ने (मुझे) चारों तरफ से घेर लिया है । ( ऐसी निस्सहायावस्था में) हे आली ! [अथवा खिलाड़ी या क्रीडाशील सुजान या प्रिय] मेरे मन को अच्छे लगने वाले प्रिय मुझे अकेली करके (अथवा एकाकिन बनाकर) चले गए ।

इस पूरे कवित्त में एक स्वर 'ए' प्रधान है । और वह कुररी की चीत्का की भाँति हृदय को वेध देता है । अन्तिम पक्ति 'हेली मनभावन अकेली मोहिँ कै चले' में विरहिणी के हृदय की असीम व्यथा उमड़ पड़ी है ।

अलंकार—सहाय हाय—यमक

विछोह-दुःख, विषाद-वेलि—रूपक । निगोड़ी-स्त्रियों की गाली गौहन-ग्रामीण शब्द ब्रज प्रान्त में खूब बोला जाता है । जायसी ने भी इसका पद्मावत में प्रचुर प्रयोग किया है ।

कत रमै उर अतर मैँ सो लहै नहीँ क्योँ सुख-रासि निरन्तर ।

दंत रहेँ गहँ आँगुरी, ते जु बियोग के तेह तचे परतन्तर ।

जो दुःख देखति हीँ घन, आनंद रैन-दिना, बिन जान सुतन्तर ।

जानैँ वेई दिन-राति, बखाने तेँ जाय परैँ दिन-राति को अन्तर ॥४७॥

इस सबैयें में कवि यह दिखाना चाहता है कि विरह-वेदना अनुभवगम्य ही होती है उसका वर्णन करना आसान काम नहीं है । यही क्योँ, उस के कथित रूप में और अनुभव किए गए रूप में वैसा ही अन्तर होता है जैसा दिन और रात का । विरह-पीड़ा के अनुभव की स्थिति और कथित स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है ।

यदि यह कहा जाय कि जिस स्त्री का प्रियतम हृदय के बीच में बसा हुआ है वह निरन्तर सुख की राशि प्राप्त क्योँ न करे ( तो इसका उत्तर यही है कि ) वे लोग भी, जो वियोग की अग्नि में प्रेम की वश्यता स्वीकार करके तब चुके हैं, मेरे उस दुःख को, जो स्वतंत्र मनोवृत्ति वाले सुजान के अभाम में मुझे दिन रात देखना पड़ता है, देखकर दौंती तले उँगली दबाए रह जायेंगे । उस

स्थिति का ( वियोग दशा का ) वर्णन करना बहुत ही कठिन काम है। जैसा दुःख मैं दिन रात देखती हूँ और सहती हूँ उसे वे दिन और रात ही समझ सकते हैं ( जिनमें मुझे वियोग दुःख उठाना पड़ता है। अन्य कोई उसे समझने में समर्थ नहीं। यदि उस कष्ट का वर्णन करती हूँ तो 'बीती' और 'कथनी' में दिन और रात का सा अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि विरह वेदना अनुभवगम्य ही है, वह कही नहीं जा सकती।

‘कन्त रमें .... सुख राशि निरन्तर’—

इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि संयोग काल प्रेमी और प्रेमिकाओं को बहुत अच्छा लगता है, वे उसमें सुख राशि लुटते रहते हैं। यहाँ वियोग की अवस्था अवश्य है। परन्तु प्रियतम उस समय भी हृदय के मध्य विराजमान हैं। संयोगकाल में तो वे समीप ही रहते हैं पर इस समय वे हृदय के अन्दर हैं, अर्थात् बहुत अधिक समीप है। अतः जिस प्रेमिका का प्रियतम इतना पास हो, उसे तो निरन्तर सुख-राशि ही प्राप्त होती रहनी चाहिए। कोई ऐसा कारण यहाँ प्रतीत नहीं होता जो सुख प्राप्ति में बाधक बने !

हिये मैं<sup>१</sup> जु आरति सुजारति उजारति है,

मारति मरो रैं<sup>२</sup> जिय डारति कहा करौं ।

रसना पुकारि कै बिचारी पचि हारि रहै,

कहै कैसे<sup>३</sup> अकह, उदेग रुंघि कै मरौं<sup>४</sup> ।

हाय कौन वेदनि विरंचि मेरे बाँट कीनी,

निघट परौ<sup>५</sup> न क्यों<sup>६</sup> हूँ, एसी बिधि हो गरौं<sup>७</sup>

आनंद के घन हो सजीवन सुजान देखौ,

३.३) सीरी परि सोचनि, अचंभे सों जरौं<sup>८</sup> मरौं<sup>९</sup> ॥४८॥

प्रेमिका विरह दुःख की विषमता में पड़ी हुई दिन व्यतीत कर रही है उस समय उसके ऊपर जो बीतती है उसका वर्णन करती हुई वह कहती है कि —

( मेरे ) हृदय में ( जो विरह ) पीड़ा है वह ( शरीर को ) जलाये और उजाड़े डालती है ( तथा वही पीड़ा ) हृदय को मरोड़ कर मारे ( भी ) डालती है । ( परन्तु मेरा कुछ भी बश नहीं चलता ) । ( अब मैं इस पीड़ा से बचने का ) क्या ( उपाय ) करूँ ? ( हृदय के मारे ) बेचारी जिह्वा पुकार करके, परेशान होकर थक जाती है

(शेलना बंद कर देती है) अर्थात् हार मान कर रुक जाती है। इस अकथ्य पी का वर्णन कोई करे भी तो कैसे ? (चू कि यह पीड़ा न कहीं जाने योग्य है अरसना भी मौन होजाती है तथा) मैं उद्वेग से घिर कर (भीतर ही भीतर) मरी जा हूँ। पता नहीं ब्रह्मा ने कौनसी (विशेष) पीड़ा मेरे हिस्से में डालदी है जिससे इस प्रकार गल (तो) रही हूँ, परन्तु एक दम, एक बार ही, किसी प्रकार समा नहीं हो जाती।

(अर्थात् इस पीड़ा से परेशान होकर मैं चाहती हू कि मर ही जाऊँ पर यहाँ घुलना ही पड़ता है, धीरे धीरे ही गलना पड़ता है मुझे मौत किसी प्रकार नहीं आती) हे मेरे प्राणों को जिलाने वाले सुजान ! देखो तुम आनंद देने वा मेघ के (समान हो) फिर भी मैं (तुम्हारी होकर भी) आनंद के स्थान पर चिन्ता के कारण (शोकाकुल हो) ठण्डी पड़कर इस आश्चर्य से जलती हू और इस प्रक दुःख की विषमता में पड़ी हुई दिन कायती हू।

अलंकार—आनंद के घन सुजान के होते हुए भी 'सोचनि सीरी पड़ने' विरोधाभास अलंकार है।

घन के होने पर भी 'अचभे सों' जलने में भी विरोधाभास अलंकार है।

'जलाना', 'उजाडना', 'मरोड़ कर मारे डालना', 'हार कर रह जान 'रूँध कर मरना', 'घोट में करना', 'निघटि न पडना', 'गलना', 'सोचन स पडना', 'अलभे से जलना', आदि अनेक मुहावरे पूरे कवित्त में भरे पड़े हैं।

तपति उसास, औधि रूँधियै कहाँ लौँ दैया, ७१८

बात बूझै सैननि ही उतर उचारियै।

उड़ि चलयौ रग कैसेँ राखियै कलकी मुख,

अनलेसेँ कहाँ लौँ न घूँघट उधारियै।

जरि वरि छार हूँ न जाय हाय ऐसी वैसि,

चित्त-चढ़ी मूरति सुजान क्यों उतारियै॥

कठिन कुढायँ आय घिरी हाँ अनदघन,

रावरी बसाय तौ बसाय न उजारियै ॥४६५॥

विरहणी अपनी स्थिति से व्यग्र होकर अपनी दशा का निवेदन करती हु सुजान से प्रार्थना करती है कि जहाँ तक उनका वश चले वहाँ तक वे अपन

विरहिणी को नष्ट होने से बचालें अन्यथा उसके नष्ट हो जाने में कोई संदेह नहीं रह गया है। विरहिणी कहती है। (विरह के ताप से) तप्त होती हुई ऊर्ध्वगामी साँसों को अवधि की आशा में कब तक धरे रहूँ (अर्थात् कहीं तक विरह में जल जल कर प्राणों को धारण किए रहूँ) और (किसी के द्वारा कुछ प्रश्न करने पर) मैं कब तक सकेतों द्वारा लोगों को उत्तर देती रहूँ ? (अर्थात् दशा इतनी दयनीय है कि मुख से बात भी निकलना बंद हो गई है।) मेरे मुख का रंग उड़ चला है मैं पीली पड़ती जाती हूँ तथा मुख विवर्ण होकर काला पड़ गया है, अतः किस प्रकार इस कलकी मुख को बचाए रहूँ और कहीं तक (यह रहस्य प्रगट हो जाने के भय से कि मैं तुम्हारे विरह में ऐसी होगई हूँ) अनन्त कालावधि तक मुख से घूँघट-पट न हटाऊँ (अर्थात् कहीं तक अपना कलकी मुख इस प्रकार घूँघट में छिपाए रहूँ ?) (ऊपर के लक्षणों को देखते हुए तो तुम्हारे रोगी की दशा अच्छी ज्ञात नहीं होती अतः तुम्हारी यह विरहिणी तुम्हें चेतावनी देती हुई कहती है कि) हाय ऐसी (मेरी सुन्दर) अवस्था (आपके वियोग में) जल जल कर कहीं राख न होजाय ? मैं आपकी चित्त में बसी हुई मूर्ति को हटा नहीं सकती। (इसलिए अब भी ध्यान दो) हे अत्यन्त आनंद देने वाले प्रियतम ! मैं बड़े बुरे अवसर पर (विपत्ति में) पड़ गई हूँ। (आपसे अनुरोध है कि) यदि आपका वश चले तो मुझे एक बार बसा कर अब (इस प्रकार) उजाड़िए मत (अर्थात् यदि आपसे हो सके तो मुझ विरह में चलती हुई की, रक्षा करके मेरा उद्धार कर दीजिए)।

‘रंग उड़ चलना’, ‘कलकी मुख राखना’, ‘घूँघट न उधारना’, (रहस्योद्घाटन न करना) ‘जरि बरि छार हो जाना’, ‘चिरा-चढ़ी मूर्ति उतारना’, ‘आ धिरना’, ‘बसाय न उजाड़ना’ आदि अनेक मुहावरे पूरे पद में व्याप्त हैं।

बसाय बसाय—यमक अलंकार

अकुलानि के ‘पानि पर्यौ दिन राति सु जौ छिनकौ न कहूँ बहरै।

फिरिबोई करै चित चेटक चाक लौं धीरज को ठिकु क्यों ठहरै।

भए कागद - नाव उपाव सबै घन आनंद नेह - नदी गहरै।

बिन जान सजीवन कौन हरै सजनी ! विरहा - विष की लहरै ॥५०॥

इस सवैया में विरहिणी ‘सुजान’ के अभाव में अपने जीव और चित्त की अवस्था का उल्लेख अपनी सखी से करती हुई कहती है।



वियोग काल में दुःखद बन जाती हैं। इसी भावना को अभिव्यक्त करती हुई विरहिणी कहती है.—

(होली गाते समय होने वाले) गभीर डफ का शब्द सुनकर (मेरे) दिन और रात जिस प्रकार व्यतीत होते हैं, फागुन मास के उन कथों की बातें मुझसे कहीं नहीं जा सकती ? (मैं उन वेदनाओं का वर्णन नहीं कर सकती) कोई (अपनी मस्ती में) जब तान गाने लगता है तो मेरे प्राणों में बाण से चुभने लगते हैं अर्थात् सुरिले स्वर में गाई गई तान मन को अच्छी न लगकर हृदय में पीड़ा पहुँचाती है। (सबसे अधिक खेद की बात यह है कि) (मेरा) प्रिय (मेरे) चित्त के मध्य में वर्तमान है पर उस चित्त के चुराने वाले चोर को मैं पकड़ नहीं पाती। (हृदयस्थ होने पर भी प्रियसे साक्षात्कार नहीं हो पाता है।) (इस पर ऐसे असमय में) चोँचर राग के उत्साह के साथ चारों दिशाओं में मनोविनोद मनाया जा रहा है (अर्थात् अन्य लोग उत्साह पूर्वक प्रसन्नचित्त आनंद मना रहे हैं)। वियोग की इस भक्कभोर को (विरह की अपनी पीड़ा को) मैं किस से कहूँ ? (कोई मेरी बात सुनने वाला नहीं है। अतः उसे सहन ही करती रहती हूँ किसी से कहती नहीं हूँ। (अब तो) हे सखी। मेरा मन उस विश्वासघाती वनमाली (प्रियतम, श्रीकृष्ण) के अभाव में सब दिशाओं में पागल की भोंति दौड़ दौड़ पड़ता है [ अर्थात् विरह की तीव्र वेदना के कारण मेरा मन उड़ा उड़ा सा रहता है ]

अलंकार—बायरे लौ—उपमा। दौरि दौरि—पुनरुक्ति प्रकाश।

मोहन अनूप रूप सुन्दर सुजान जू को,  
ताहि चाहि मन मोहि दसा महा मोह की।  
अनोखी हिलग दैया। विखुरै तौ मिल्यौ चाहै,  
मिलै हूँ मैं मारै जाँरै, खरक विछोह की।  
कैसे धरौँ धीर बीर ! अति ही असाध पीर,  
जतन ही रोग माहि नीकेँ करि टोह की।  
देखँ अनदेखँ तहीँ अटक्यो अनदवन,  
ऐसी गति कहाँ कहाँ सु बक औ लोह की ॥२३॥

इस कवित्त में नायिका 'सुन्दर सुजान ज' के 'मोहन अनूप रूप' पर मोहित होकर और इस मोह दशा से व्याकुल होकर अपने हृदय की उलझन सखी से कहती है—

सुन्दर सुजान का रूप अनुपम और मोहित कर लेने वाला है । उस सौंदर्य को (प्रेम पूर्वक) देखकर मेरा मन महामोह की अवस्था में पड़ जाता है । [ मेरी स्थिति बढ़ी दयनीय हो जाती है ] हाँ दैव ! (मैं) बढ़ी विलक्षण उलभन में ! (पड़ जाती हूँ) । यदि उनसे विलोह होजाता है तो मन (उनके दर्शनों में ही अपने सारे कष्टों का अन्त मान कर) उनसे मिलना चाहता है और मिलन के समय भावी विलोह की खटक उसे सताती रहती है ( अर्थात् मिलन होजाने पर भी मन को शान्ति नहीं मिल पाती । उस समय भी मन भावी वियोग की आशका से व्याकुल होकर दुःख का ही अनुभव करता रहता है ) । ऐसी अवस्था में हे सखी ! मैं धैर्य किस प्रकार धारण करूँ ? यह खटक तो असाध्य पीड़ा होगई है । इसको शमन करने के जितने भी उपचार या प्रयत्न किए जाते हैं वे सब स्वतः रोग बन जाते हैं (अर्थात् यत्न करने से रोग घटता नहीं है बढ़ता ही जाता है ) । (मैंने) इस बात की ओह भली भोति लगाली है ।

घनानन्द जी कहते हैं कि मन प्रियतम को देखने पर भी और न देखने पर भी वहाँ (प्रियतम के अमित रूप पर) अटका रहता है । इस प्रकार प्रिय की और इस मन की जो स्थिति हांगई है, उसकी तुलना में यदि चुंबक और लोहे के आकर्षण को रखा जाय तब भी गति नहीं बैठती । ( चुंबक और लोह जैसी ) दशा यहाँ कहाँ है ? चुंबक तो लोहे को देखने पर, समीप होने पर ही आकर्षित करता है किन्तु प्रियतम का रूप बिना देखे, दूर होने पर भी, प्रेमिका के मन को अपनी ओर खींचता रहता है । प्रेमिका यह दिखाना चाहती है कि उसका प्रेमाकर्षण चुंबक के आकर्षण से भी अधिक है ।

‘अनोखी हिलग टैया !.....विलोह की ।’

इस पंक्ति में व्यक्त की हुई भावना घनानंद जी को वियोग प्रधान वृत्ति का पोषण करती है । मिलन काल में भी वियोग-वेदना का भाव कई स्थलों पर व्यक्त हुआ है । मिलने के समय भी वे भावी वियोग दुःख से भयभीत बने रहते हैं । उनकी इसी विशेषता का उद्घाटन करते हुए उनके प्रशस्तिकर श्री ब्रजनाथ जी ने उनके लिए लिखा है—

“चाह के रग में भीज्यो हियो,  
बिछुरेँ मिलै प्रीतम सांति न मानेँ ।”

इसी भावना को पुष्ट करने वाली कुछ अन्य पक्तियाँ ये हैं—

(१) जो कहूँ भावतो दीठि परै घन आनंद आँसुन आँसर गारति ।  
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँसुन के उर आरति ।”

(२) ‘बिछुरै कित साति, मिले हू न होति,  
छिरी छितियाँ अकुलानि छुरी ।

तुमहों तेहि साखि सुनौ घन आनंद,

प्यार निगोडे की पीर बुरी ।”

कवित्त की अन्तिम पक्ति में ‘व्यतिरेक अलंकार’ है ।  
‘सुखों हू न चैन परै, दिन रैन सु पौड़े पर्यो बिरहा बजमारो ।  
ज्यौ बहरै न कहूँ छन एकहूँ, चाहैं सुजान सजीवन प्यारो ।

ऐसी घड़ी घन आनंद बेदनि देया उपाय तें आवैं तँवारो ।

हों ही मरौँ अकली, कहौँ कौन सों, जा विघ्न होत है साभ सवारो ॥२४॥

विरह की तीव्र वेदना से व्यथित होकर नायिका कहती है कि —

‘बजमारा’ विरहा मेरे पीछे पड़ गया है, जिससे दिनरात, किसी प्रकार भी, आराम नहीं मिलता है । (मेरा हृदय) एक क्षण के लिए भी कहीं नहीं बहलता । वह जीवन देने वाले प्रिय सुजान को चाहता रहता है ( अर्थात् उनके दर्शनों के लिए उत्सुक बना रहता है ) । घनानन्द जी कहते हैं कि ( नायिका के मन में ) वियोग वेदना इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसे दूर करने के प्रयत्न से ही उसे मूर्च्छा आ जाती है ( और विरह दूर नहीं होता ) । अतः वह निराश होकर कहती है कि ) मैं अकेली ही अपना समय काटती हूँ । सध्या से लेकर प्रातः काल तक का मेरा समय जैसे व्यतीत होता है, उस समय जो मुझ पर जो बीतती है, उस दुःख की गाथा को मैं किस से कहूँ ? ( अर्थात् प्रियतम सुजान के अतिरिक्त अन्य किसी अपने दुःख की कहानी सुनाऊँ ? )

## चिन्तना

( १२ ) तब तौ छवि पीबत जीवत हे, अथ सोचन लोचन जात जरे ।

हित-पोष के तोष सु ग्रान पले, विललात महादुख-द्रोष-भरे ॥

घनआनंद मीत सुजान विना सबही सुख साज समान दरे ।

तब हार पहार से लागत हे अथ आनि कै बीच पहार परे ॥२५॥

सयोग और वियोग काल की परिस्थितियों की तुलना करता हुआ कवि कहता है—

तब ( सयोग काल में ) मेरे नेत्र ( प्रेमिका ) की शोभा का पान करते करते ही जीवित रहते थे अर्थात् हमेशा उसकी छवि निरखते रहते थे, परन्तु अब ( वियोग काल में ) इसी सोच में कि कब उसके दर्शन होंगे, मेरे नेत्र जले जाते हैं । तब ये (मेरे) प्राण प्रेम के द्वारा पोषित किये जाने से सन्तोष के साथ पलते रहे अब वे ही (प्राण) वियोगजन्य कष्ट एवं दोषों से भरे हुए व्याकुल हो रहे हैं । घनानन्द जी कहते हैं कि मित्र सुजान के अभाव में सब प्रकार के सुखों के समूह एवं उसके विधान किनारा कर गए हैं, ( और परिस्थितिया इतनी प्रतिकूल हो गईं हैं कि ) उस समय तो (वृक्षस्थल पर पहनी हुई माला पहाड़ सी प्रतीत होती थी अर्थात् उस समय हमें माला भर की दूरी भी मुक्त मिलन में बाधक बनने के कारण पहाड़ सी प्रतीत होती थी) । परन्तु अब पौसा ही पलट गया है । अब सचमुच वियोगकाल में प्रियतम के आख ओट हो जाने से पहाड़ ओट होगया है । अर्थात् प्रिय मुझसे बहुत दूर होगया है ।

तृतीय पक्ति में 'धन आनंद' भीत सुजान का विशेषण हो सकता है उस समय इसका अर्थ होगा 'अत्यन्त आनंद' दायक मित्र सुजान ?

पहिचाने हरि कौन, मो से अनपहचान को ।

त्यों पुकार मधि मौन, कृपा-कान मधि मौन ज्यों ॥५६॥

हे हरि ! मुझे जैसे अपरिचितों को कौन पहिचाने ? (इसीलिए तो मैं कुछ कहता नहीं मौन हूँ ) । जिस प्रकार आपके नेत्रों के बीच कृपारूपी कान छिपे पड़े हैं, आप देख कर ही सुन लेते हैं, (चक्षुश्रुवा बन जाते हैं) समझ लेते हैं, कृपा करते हैं, उसी प्रकार मेरे मौन में ही पुकार छिपी हुई है । मेरी मौन चेष्टाओं में व्यक्त होने वाली पुकार को आपके वे कृपा के कान सुन लेते हैं, जो आपके नेत्रों में छिपे हैं । आप मेरी मौन पुकार नेत्रों से देखकर ही समझ लेते हैं । और कृपा करते हैं ।

अलंकार—त्यौं त्यों . विरोधाभास

धिस लै विसार्यो तन, कै बिसासी आपचार्यो,

इसी भावना को पुष्ट करने वाली कुछ अन्य पक्तियाँ ये हैं—

- (१) जो कहूँ भावतो दीठि परै घन आनंद आँसुन आँसर गारति ।  
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति ।”
- (२) ‘बिछुरै कित साति, मिले हू न होति,  
छिरी छितियाँ अकुलानि छुरी ।

तुमही तेहि साखि सुनौ घन आनंद,

प्यार निगोडे की पीर बुरी ।”

कवित्त की अन्तिम पक्ति में ‘व्यतिरेक अलंकार’ है ।

‘क्यों हू न चैन परै, दिन रैन सु पैडे पर्यौ विरहा बजमारो ।

ज्यौ बहरै न कहू छन एकहू, चाहैं सुजान सजीवन प्यारो ।

ऐसी वढ़ी घन आनंद बेदनि दैया उपाय तें आवैं तँवारो ।

हों ही मरौं अकली, कहौं कौन सों, जा विध होत है साभ सवारो ॥२४॥

विरह की तीव्र वेदना से व्यथित होकर नायिका कहती है कि —

‘बजमारा’ विरहा मेरे पीछे पड़ गया है, जिससे दिनरात, किसी प्रकार भी, आराम नहीं मिलता है । (मेरा हृदय) एक क्षण के लिए भी कहीं नहीं बहलता । वह जीवन देने वाले प्रिय सुजान को चाहता रहता है ( अर्थात् उनके दर्शनों के लिए उत्सुक बना रहता है ) । घनानन्द जी कहते हैं कि ( नायिका के मन में ) वियोग वेदना इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसे दूर करने के प्रयत्न से ही उसे मूर्च्छा आ जाती है ( और विरह दूर नहीं होता ) । अतः वह निराश होकर कहती है कि ) मैं अकेली ही अपना समय काटती हूँ । सध्या से लेकर प्रातःकाल तक का मेरा समय जैसे व्यतीत होता है, उस समय जो मुझ पर जो घीतती है, उस दुःख की गाथा को मैं किस से कहूँ ? ( अर्थात् प्रियतम सुजान के अतिरिक्त अन्य किसे अपने दुःख की कहानी सुनाऊँ ? )

## चिन्तना

( 12 ) तब तौ छवि पीवत जीवत हे, अथ सोचन लोचन जात जरे ।

हित-पोष के तोष सु प्राण पले, विललात महादुख-द्रोष-भरे ॥

घनआनंद मीत सुजान बिना सबही सुख साज समान ढरे ।

तब हार पहार से लागत हे अथ आनि कै बीच पहार परे ॥२५॥

सयोग और वियोग काल की परिस्थितियों की तुलना करता हुआ कवि कहता है—

तब ( सयोग काल में ) मेरे नेत्र ( प्रेमिका ) की शोभा का पान करते करते ही चींखित रहते थे अर्थात् हमेशा उसकी छवि निरखते रहते थे, परन्तु अब ( वियोग काल में ) इसी सोच में कि कब उसके दर्शन होंगे, मेरे नेत्र जले जाते हैं । तब ये (मेरे) प्राण प्रेम के द्वारा पोषित किये जाने से सन्तोष के साथ पलते रहे अब वे ही (प्राण) वियोगजन्य कष्ट एवं टोषों से भरे हुए व्याकुल हो रहे हैं । घनानन्द जी कहते हैं कि मित्र सुजान के अभाव में सब प्रकार के सुखों के समूह एवं उसके विधान किनारा कर गए हैं, ( और परिस्थितिया इतनी प्रतिकूल हो गईं हैं कि ) उस समय तो (वज्रस्थल पर पड़नी हुई माला पहाड़ सी प्रतीत होती थी अर्थात् उस समय हमें माला भर की दूरी भी मुक्त मिलन में बाधक बनने के कारण पहाड़ सी प्रतीत होती थी) । परन्तु अब पाँसा ही पलट गया है । अब सचनुच वियोगकाल में प्रियतम के आख ओट हो जाने से पहाड़ ओट होगया है । अर्थात् प्रिय मुझसे बहुत दूर होगया है ।

तृतीय पक्ष में 'घन आनंद' मीत सुजान का विशेषण हो सकता है उस समय इसका अर्थ होगा 'अत्यन्त आनंद' दायक मित्र सुजान ?

पहिचाने हरि कौन, मो से अनपहचान कौ ।

त्यों पुकार मधि मौन, कृपा-कान मधि मौन ज्यों ॥५६॥

हे हरि ! मुझे जैसे अपरिचितों को कौन पहिचाने ? (इसीलिए तो मैं कुछ कहता नहीं मौन हूँ) । जिस प्रकार आपके नेत्रों के बीच कृपालुपी कान छिपे पड़े हैं, आप देख कर ही सुन लेते हैं, (चक्षुश्रुवा बन जाते हैं) समझ लेते हैं, कृपा करते हैं, उसी प्रकार मेरे मौन में ही पुकार छिपी हुई है । मेरी मौन चेष्टाओं में व्यक्त होने वाली पुकार को आपके वे कृपा के कान सुन लेते हैं, जो आपके नेत्रों में छिपे हैं । आप मेरी मौन पुकार नेत्रों से देखकर ही समझ लेते हैं और कृपा करते हैं ।

अलंकार—त्यों व्यौ : विरोधाभास

विस लै विसार्यो तन, कै विसासी आपचार्यो,

जान्यो हुतौ मन ! तैं सनेह कछु खेल सो ।

अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रे भली भॉति,  
 नीकें आहि असह-उदेग-दुख सेल मो ।  
 गए उड़ि तुरत परेरु लौ सकल सुख,  
 पर्यौ आय औचक वियोग वैरी डेल मो ।  
 रुचि ही के राजा जान प्यारे यौ अनद्वन,  
 होत कहा हँ रक । मान लीनो मेल मो ॥५७॥

प्रेमियों की यह एक प्रधान प्रवृत्ति होती है कि वे अपने प्रिय की प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक कार्य-कलाप का मूल्य अपने सब से ही आकते हैं । उसकी हर गतिविधि का मूल कारण वे अपने को ही समझे रहते हैं । अन्य कारण प्रमुख होते हुए भी उनके भावातिरेक के सामने अत्यन्त अप्रमुख अथवा गौण स्थान ही प्राप्त कर पाते हैं । प्रिय की हर चेष्टा उसकी प्रेम भावना को उद्दीप्त करने वाली होती है चाहे वह हुई किसी भी कारण से हो ।

इस कश्चित्त में इसी प्रवृत्ति की और संकेत किया गया है । प्रिय ने प्रेमी की ओर तनिक देर लिया और प्रेमी ने देखने को ही 'मेल' मान लिया । उसने समझ लिया कि प्रणय-पथ को मजिल तय होगई । परन्तु वस्तुतः ( विपाद में वियोगी की सुभलाहट के अनुसार ) वहाँ न तो 'मेल' का ही सूत्रपात हुआ था और न प्रेम का ही । यह केवल मनचाही करने वाले विश्वासघाती मन की भ्रान्तिपूर्ण धारणा थी जिसके अनुसार चलने पर प्रणयी को वियोग का महान कष्ट उठाना पड़ रहा है । इसी बात को लेकर प्रेमी कहता है—

हे मन ! तूने प्रेम करना क्या 'कोई खेल समझ रखा था ? ( अर्थात् भ्रम वश तू प्रेम करने को खेल समझ बैठा है । वस्तुतः प्रेम करना कोई आमान काम या खेल नहीं है ) ( और तम के कारण ) विश्वासघाती ( तूने ) स्नेच्छाचार करके, मनमानी करके, वियोग को लाकर इस शरीर की सुधि भुला दी

हेगा। (करूं भी तो क्या करूँ) प्रियतम सुजान तो मनमानी करने वालों के म्राट् हैं जो उनके मन में आता है वही करते हैं (अथवा प्रिय सुजान शोभा के म्राट् है, अत्यन्त रूपवान् है)। अतः घनानन्द जी कहते हैं कि इस प्रकार उनके आध्यात्म स्वभाव में देख लेने से क्या होता है, (वे राजा हैं, तू रक है दोनों में मेल कैसा) (परन्तु फिर भी) हे रंक (मन ! ) तूने उनके एक बार देख लेने में ही मल समझ लिया यह तेरी सरासर गलती है। भला कहीं राजा और रक में इस प्रकार प्रीति होती है)

अलंकार—‘पवेलु लो’, ‘डेल सो —उपमा। ‘गए उड़ि’ ‘डेल सो’ पक्षियों में उपमा-पुष्ट रूपक अलंकार है। कवि ने बड़ी साधारण सी बात के द्वारा सुखों का किनारा कर जाने की बात कहदी है। प्रायः पक्षियों के झुण्ड में एक डेला रेंक देने से सारे के सारे पक्षी उड़ जाते हैं। अतः कवि ने पक्षियों के उड़ जाने को उपमान बनाकर समस्त सुखों के नष्ट होजाने की बात स्पष्ट करदी है।

रचि एव आनदधन=श्लिष्ट पद, विमर्शो-श्लेष

तन विसारना, आपचार्यो करना, खेल सा जानना, ज्वाल में पजरना, उड़ जाना, आपडना, रचि के राजा होना, देखने से क्या ? मेल मान लेना आदि अनेक मुहावरे कवित्त में प्रयुक्त हुए हैं। ये कवि की भाषा शक्ति का परिचय देते हैं।

सुक्कै नहीं सुरम्क उरम्कि नेह-गुरम्कनि,  
सुरम्कि सुरम्कि निसिदिन डोवाडोल है।

आह की न थाह देया कठिन भद्रौ निवाह,  
चाह के प्रवाह घेर्यौ दारुन कलोल है

वे ती जान प्यारे निधरक है अनंदधन,  
तिनकी धौं गूढ़ गति मूढ़ मति को लहै

आगे न विचार्यौ अब पाछे पछताए कहा,  
मान मेरे जियरा बनी को कैसो मोल है ॥५८॥

प्रेम का व्यापार साधारण व्यापार नहीं हैं। इस व्यापार में बहुत अधिक मूल्य देना पड़ता है और कभी कभी अपना सर्वस्व समर्पण कर देने पर भी सौदा नहीं मिलता। प्रिय के दर्शन भी दुर्लभ हो जाते हैं और असह्य प्रेम वेदना भेलनी



पड़ती है। प्रेम के फट में फँसकर उससे निकल जाने का कोई चाग ही शेष नहीं रह जाता। इसी तथ्य को लेकर प्रेमी कहता है —

स्नेह की गोंठ पड़ जाने पर, प्रेम की उलझन में उलझ जाने पर (प्रयत्न करने पर भी उससे) छूट जाने का अथवा सुलभाव का कोई उपाय दृष्टि गोचर नहीं होता। उस उलझन में पड़े पड़े प्राण मुरझा कर, बेहोश हो होकर दिन रात हायवोहोल स्थिति में अथवा अस्थिर रहते हैं। (मन को चञ्चलता आ घेरती है, उसकी शान्ति नष्ट हो जाती है और वह हमेशा उड़ा उड़ा सा रहने लगता है)। उस अवस्था में आह की गहराई की तो आह ही नहीं मिलती (अर्थात् बहुत गहरी सोंसें भरनी पड़ती हैं)। हे दुर्दैव ! (जीवन) निर्वाह कर ले जाना बहुत कठिन हो गया है। मुझे प्रेम के प्रवाह में उसकी भयकर कलोलों ने (तरंगों ने) घेर लिया है। मैं प्रेम की उताल तरंगों के थपेड़े खारड़ा हूँ और उनमें विकल हूँ। घनानन्द जी कहते हैं कि (प्रेम में मेरी यह दुर्दशा होने पर भी) वे प्रियतम सुजान देखक हैं, उन्हें मेरी कोई चिन्ता ही नहीं है। उनकी इस रहस्य भरी चाल को, उनके भेद भाव को, भला कोई मट बुद्धि कैसे जान सकता है? साराश यह है कि उनकी (प्रिय की) रहस्यमय गति का पता मुझ जैसे मट या साधारण विवेक वाले को नहीं चल सकता। हे मेरे (व्याकुल) हृदय ! तू ने (प्रेम करने से) पहिले तो विचार नहीं किया (अब पछताता है)। पर अब पश्चाताप करने से कोई लाभ नहीं। अब तू अच्छी तरह इस कठिन प्रेम-व्यापार का मूल्य समझले। (व्यग्य से) प्रेम-व्यापार में अत्यन्त अधिक मूल्य देना पड़ता है, अनेक कष्ट भेलने पड़ते हैं, तब कहीं सौदा मिलता है और कभी कभी अनेक बाधाओं को पार करने पर भी, अनेक यातनाएँ भेल लेने पर भी सौदा (प्रियतम) नहीं मिलता। (अतः यह व्यापार साधारण व्यापार से विलक्षण है)।

ज्यों बुधि सों सुघराई रच कोऊ, सारदा कों कविताई सिखावै।

भूरतिवत महलछिमा उर पीत हरा रचि लै पहिरावै।

राग-चधू-चित चोरन के हित मोधि सुधारि कै तानहि गावै।

त्यों ही सुजान तिये घन आनन्द मो जिय बौराई रीति रिन्नावै ॥५६॥

प्रेमी अपने प्रियतम को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नित्य नवीन योजनाओं का निर्माण करता रहता है, चाहे वह योजना प्रिय का अपनी ओर

खींचने के लिए अनुकूल एवं उचित हो या न हो । अपने अनन्त वैभवशाली प्रिय को भी अनेक बार द्रव्य-लोभ दिखाकर प्रेमी उसे अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं । मधुर गीतियों के द्वारा भी उन्हें रिझाने का प्रयास वे करते हैं ।

पर यहाँ प्रेमी कहता है कि सुजान को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए मैं जो भी उपक्रम करता हूँ वह उसके महत्त्व के सामने मुझे बहुत तुच्छ प्रतीत होता है । उसके सामने चतुरता दिखाना, उसे उपहार देकर सन्तुष्ट करने का विधान करना, तथा गा गा कर रिझाने की योजना करना सभी कुछ व्यर्थ हैं । ये प्रयत्न उसके लिये वैसे हो हैं, जैसे कि, कोई व्यक्ति बुद्धि से ( अर्थात् सारी चतुरता की अधिष्ठात्री देवी से ) चतुरता की बातें बघारे ( अथवा ) सरस्वती को ( कविता की अधिष्ठात्री देवी ) को कविता सिखाने का विधान करे । ( अथवा ) मूर्तिमती महालक्ष्मी ( धन की अधिष्ठात्री देवी ) के हृदय पर ( गले में ) काँच की गुरियों की गाला पहना कर उन्हें रिझाने का प्रयत्न करें अथवा रागिनी के हृदय-हरण के लिए विचार पूर्वक तान को ठीक करके भलीभाँति आलाप लेने का प्रयत्न करे ।

मेरा सुजान को ( प्रेमिका को ) प्रसन्न करने का विधान भी इन्हीं कोटियों में आता है ) उपर्युक्त प्रकार से ही मेरे मन को पागलपन की रीति सुजान ( सजान ) प्रेमिका को रिझा लेना चाहती है । विचित्र विरोध है । मैं अपने पागलपन से सुजान ( सजान ) को वश में करना चाहता हूँ ( जो सम्भव नहीं है ) ।

अलंकार—ज्यों .....तानहिँ गावै ..उदाहरण माला ।

“सुजान-जिय बौराई रीति रिझावै”—विरोध अलंकार ।

गरल गुमान की गरावनि दसा को पान,

करि करि घौस-वैनि प्रान घट घोटिबो ।

हेत खेत धूरि चूरि चूरि सोस, पाँव राखि,

विष-समुदेग-वान आगे उर ओटिबो ।

जान प्यारे जो न मन आनेँ तौ अनद घन,

भूलि तू न सुमिरि परेखेँ चख चोटिबो ।

तिन्हैँ यों सिराति छाती तोहि वै लगति ताती,

तेरे बोटें आयौ है अंगारनि पै लोटिबो ॥६०॥

पड़ती है। प्रेम के फंद में फँसकर उससे निकल जाने का कोई चाग ही शेष नहीं रह जाता। इसी तथ्य को लेकर प्रेमी कहता है —

स्नेह की गोंठ पड़ जाने पर, प्रेम की उलझन में उलझ जाने पर (प्रयत्न करने पर भी उससे) छूट जाने का अथवा मुलभाव का कोई उपाय दृष्टि गोचर नहीं होता। उस उलझन में पड़े पड़े प्राण मुरझा कर, बेहोश हो होकर दिन रात हावॉडोल स्थिति में अथवा अस्थिर रहते हैं। (मन को चंचलता आ घेरती है, उसकी शान्ति नष्ट हो जाती है और वह हमेशा उड़ा उड़ा सा रहने लगता है)। उस अवस्था में आह की गहराई की तो थाह ही नहीं मिलती (अर्थात् बहुत गहरी सोंसें भरनी पड़ती है)। हे दुर्देव ! (जीवन) निर्वाह कर ले जाना बहुत कठिन हो गया है। मुझे प्रेम के प्रवाह में उसकी भयंकर कलोलों ने (तरंगों ने) घेर लिया है। मैं प्रेम की उताल तरंगों के अपेड़े खारहा हूँ और उनमें विकल हूँ। घनानंद जी कहते हैं कि (प्रेम में मेरी यह दुर्दशा होने पर भी) वे प्रियतम सुजान देखदक हैं, उन्हें मेरी कोई चिन्ता ही नहीं है। उनकी इस रहस्य भरी चाल को, उनके भेद भाव को, भला कोई मठ बुद्धि कैसे जान सकता है? साराश यह है कि उनकी (प्रिय की) रहस्यमय गति का पता मुझ जैसे मठ या साधारण विवेक वाले को नहीं चल सकता। हे मेरे (व्याकुल) हृदय ! तू ने (प्रेम करने से) पहिले तो विचार नहीं किया (अब पछताता है)। पर अब पश्चाताप करने से कोई लाभ नहीं। अब तू अच्छी तरह इस कठिन प्रेम-व्यापार का मूल्य समझले। (व्यग्न से) प्रेम-व्यापार में अत्यन्त अधिक मूल्य देना पड़ता है, अनेक कष्ट भेलने पड़ते हैं, तब कहीं सौदा मिलता है और कभी कभी अनेक बाधाओं को पार करने पर भी, अनेक यातनाएँ भेल लेने पर भी सौदा (प्रियतम) नहीं मिलता। (अतः यह व्यापार साधारण व्यापार से विलक्षण है)।

ज्यों बुधि सों सुधराई रचें कोऊ, सारदा कों कविताई सिखावैं।

मूरतिवत महालक्ष्मी उर पोत हरा रचि लै पहिरावैं।

राग-वधू-चित चोरन के हित सोधि सुधारि कै तानहि गावैं।

त्यों ही सुजान तिये घन आनंद मो जिय वौराई रंति रिझावैं ॥५६॥

प्रेमी अपने प्रियतम को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नित्य नवीन योजनाओं का निर्माण करता रहता है, चाहे वह योजना प्रिय का अपनी ओर

खींचने के लिए अनुकूल एव उचित हो या न हो । अपने अनन्त वैभवशाली प्रिय को भी अनेक बार द्रव्य-लोभ दिखाकर प्रेमी उसे अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं । मधुर गीतियों के द्वारा भी उन्हें रिझाने का प्रयास वे करते हैं ।

पर यहाँ प्रेमी कहता है कि सुजान को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए मैं जो भी उपक्रम करता हूँ वह उसके महत्त्व के सामने मुझे बहुत तुच्छ प्रतीत होता है । उसके सामने चतुरता दिखाना, उसे उपहार देकर सन्तुष्ट करने का विधान करना, तथा गा गा कर रिझाने की योजना करना सभी कुछ व्यर्थ हैं । ये प्रयत्न उसके लिये जैसे ही हैं, जैसे कि, कोई व्यक्ति बुद्धि से ( अर्थात् सारी चतुरता की अधिष्ठात्री देवी से ) चतुरता की बातें बघारे ( अथवा ) सरस्वती को ( कविता की अधिष्ठात्री देवी ) को कविता सिखाने का विधान करे । ( अथवा ) मूर्तिमयी महालक्ष्मी ( धन की अधिष्ठात्री देवी ) के हृदय पर ( गले में ) काँच की गुरियों की गाला पहना कर उन्हें रिझाने का प्रयत्न करें अथवा रागिनी के हृदय-हरण के लिए विचार पूर्वक तान को ठीक करके भलीभाँति आलाप लेने का प्रयत्न करे ।

मेरा सुजान को ( प्रेमिका को ) प्रसन्न करने का विधान भी इन्हीं कोटियों में आता है ) उपर्युक्त प्रकार से ही मेरे मन को पागलपन की रीति सुजान ( सजान ) प्रेमिका को रिझा लेना चाहती है । विचित्र विरोध है । मैं अपने पागलपन से सुजान ( सजान ) को वश में करना चाहता हूँ ( जो सम्भव नहीं है ) ।

अलंकार—अर्थ.....तानहिं गावै...उदाहरण माला ।

“सुजान-निय औराई रीति रिझावै”—विरोध अलंकार ।

गरल गुमान की गरवनि दसा को पान,

करि करि छौस-रैनि प्रान घट छोटिबो ।

हेत खेत धूरि चूरि चूरि सोस, पाँव राखि,

विप-समुदेग-वान आगे उर ओटिबो ।

जान प्यारे जो न मन आनेँ तौ अनद धन,

भूलि तू न सुमिरि परेखैँ चख चोटिबो ।

तिन्हैँ योँ सिराति छाती तोहि वै लगति ताती,

‘ तेरे वोटैँ आयोँ है अंगारनि पै लोटिबो ॥६०॥ ’

विरही अपनी दिन रात की अवस्था और 'रहनि' की ओर ध्यान आकर्षित करता हुआ, प्रियस्तन सुजान की निष्ठुरता से दुःखी होकर और अपने भाग्य पर दोषारोपण करके, आत्म-सतोष प्रगट करता है। वह कहता है कि—

अहकार की भावना को गला देने वाली (विरह) दशा के (दुःख अथवा) विप को पीकर सुभे अपने प्राणों को शरीर में ही दिन रात घोटना पड़ता है। मैं प्रेम के क्षेत्र की धूल में अपनी साँसों को चूर चूर करके (अर्थात् धूल में मिला कर) पैर जमाकर, व्याकुलता के विधात वाणों के सामने, उनको (उनकी चोट को) सहने के लिए अपनी छाती आगे कर देता हूँ। घनानन्द कहते हैं कि इतने पर भी यदि प्रियतम सुजान तुझे मन में नहीं ले आते (अथवा) तेरी ओर आकर्षित नहीं होते) तो तू उनके कटाक्ष से घायल होने के पछतावे का स्मरण भूलकर भी मत कर। (क्योंकि) उन (सुजान) की छाती तो इसी प्रकार (अर्थात् प्रेमियों को अपने कटाक्षों से चोटिल करने में ही) शीतल होती है, यद्यपि तेरी छाती उससे जलती रहती है। (इसमें उनका कुछ भी दोष नहीं है। दोष यदि किसी का है भी तो वह तेरे भाग्य का ही क्योंकि) तेरे हिरसे में अँगारों पर लोटना ही आया है अर्थात् तेरे भाग्य में कष्ट उठाना ही बदा है।

“गरल गुमान      पान करि करि।”

इस पंक्ति में 'हाल' विरह दशा के लिए आया है। वास्तव में विरह का दुःख बहुत ही कठिनाई से भेला जाता है। साथ ही इसके दुःख के आघात प्रतिघातों में व्याकुल विरही का सारा अभिमान या अहकार धीरे धीरे नष्ट हो जाता है। अतः विरह दशा को “गुमान की गरावनि दशा का गरल” कहा गया है। इस अवस्था में सारा अभिमान समाप्त होजाता है।

हेत—खेत      } रूपक  
विप—समुदेग-वान

करि करि, चूरि चूरि—पुनरुक्ति प्रकाश

हेत—खेत      उर ओटिवो ।

इन पंक्तियों में सावयव रूपक की व्यञ्जना है।

‘छाती सिराना’, ‘ताती लगना’, ‘बोटे आना’, ‘अंगारों पर लोटना’ आदि मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

अधिकौ सुधि लेत, सुन्यौ, हतिकै गति रावरी क्यों हूँ न बूझि परै ।  
मति आवरी आवरी हूँ जकि जाय, उपाय कहूँ कि न सूझि परै ।  
घन आनंद यौ अपनाय लजी इन सोचनि ही मन मूझि परै ।  
दिन रैन सुजान-वियोग कै वान सहै जिय पापी न जूझि परै ॥६२॥

विरहिणी प्रियतम के विचित्र और दुर्बोध प्रेम की विषमता से आर्त होकर उलाहना देती हुई कहती है—

सुना है कि अधिक भी मारकर ( मरे हुए शिकार की ) सुधि लेता है परन्तु आप की गति किसी भी प्रकार से समझ में नहीं आती । ( उसे समझने के प्रयास में मेरी ) बुद्धि व्याकुल और बावली होकर स्तब्ध हो जाती है । उसे कहीं कोई अन्य उपाय भी नहीं दिखाई देता । घनानंद जी कहते हैं कि आपने मुझे इस प्रकार अपना कर छोड़ दिया, इस शोच में ही मेरा मन शिथिल पड़ता जाता है । मेरा पापी हृदय दिन रात प्रियतम सुजान के वियोग-बाण सहता रहता है पर मर कर भिट नहीं जाता ( अर्थात् मर्यान्तक पोड़ा सहन करने पर भी मैं जीवित बनी रहती हूँ, यह खेद की बात है ) ।

रंग लियौ अवलानि के अंग तें, चायकियौ चित चैन को चोवा ।  
और सबै सुख सोँधे सँकेलि मचाय दियौ घन आनंद बोवा ।  
प्राण अवीरहि फँट भरे अति छाक्यौ फिरै, मति की गति खोवा ।  
स्याम सुजान बिना सजनी ! ब्रज यौ विरहा भयौ फाग बिगोवा ॥६३॥

घनानन्द ने कई कवित्तों में विरह के साथ फाग का रूपक बाँधा है । प्रस्तुत सवैया में भी यह सत्यानाशी विरह फाग का स्वाँग भरता हुआ दिखाया गया है । फाग खेलते समय 'हुरिया' ( होली खेलने वाले ) अपने हाथों में रंग, चोआ तथा और भी अन्य प्रकार के सुगंधित पदार्थ लेकर निकलते हैं । वे अग्निर को भी अपनी फँट में बाँधे रहते हैं और अवसर आने पर उसे उड़ा उड़ा कर दूसरों पर डालते भी जाते हैं । विरह भी ऐसा ही कार्य कर रहा है ।

उसने अवलाओं के शरीर से रंग छीन लिया है [ अर्थात् वे विरह में विवर्ण ( पीली ) हो गई हैं ] और उनके चित्त के चैन को ( विरह तड़प से ) टपका कर चोआ बनाया है ( अर्थात् उनके चित्त की सारी शांति निचोड़ली है ) । ( इसके

साथ ही साथ उन अवलाओं के पास जो ) अन्य सुख रूपी सुगन्धित पदार्थ थे उस सब को एकत्र करके ( उस विरह ने ) उनसे प्राप्त होने वाले घने आनन्द को ढोना शुरू कर दिया है ( अर्थात् रंग और चैन का अवलाओं से हरण करने बाद उनके पास जो अन्य सुख-साधन थे उनको भी उनके पास से वह ढो ले गया ) [ विरहिणी अवलाओं की सभी सुख सम्पत्ति का अपहरण करके अब यह विरह उनकी एक मात्र पूजा, प्राणों को ही उड़ा देना चाहता है ] प्राण रूपी अवीर अपने फेंटे में भरे हुए ( उनको अवीर की भाँति उड़ाने के लिए उत्सुक होकर यह विरह अपनी मति की गति खोकर अर्थात् बुद्धि का त्याग करके ओर अत्यन्त नशे में चूर होकर ( मतवाला बनकर ) घूम रहा है ।

विरह से कष्ट पाकर नायिका अपनी सखी से कहती है कि हे सजनी ! च्छ्री कृष्ण के अभाव में इस व्रज प्रदेश में यह सत्यानाशी विरह ऐसा फाग खेल वाला हो गया है कि मदमस्त होकर, उल्लास प्रगट करता हुआ अपनी धुन किसी की परिस्थितियों का बिना ध्यान किए हुए, अपनी चाल से चला जा रहा है यह विरहिणियों के लिए श्री कृष्ण जी के अभाव में अत्यन्त कष्ट दायक है ।

चोवा.—कपूर, चदन, आदि सुगन्धित द्रव्यों को औंठ कर भभके द्वारा विशिष्ट सुगन्धित द्रव्य ( सत ) निकाला जाता है उसे चोआ कहते हैं ।

मचाय दियौ घन आनंद ढोवा — इस पदांश का अर्थ घनानन्द-कवित्त पाद-टिप्पणी कार ने 'आनन्द की दुहाई मचादी, आनन्द का पूरा साज सामा किया । आनन्द की और भी सामग्री उसने खोजकर एकत्र की है' किया है वस्तुतः विरह से और सभी सुख रूपी सुगन्धित पदार्थों को एकत्रित करके ही च नही बैठ गया, उसने त्याग सुजान के अभाव में अवलाओं के शरीर से रंग तत्त्व चित्त के चैन का अपहरण करके ही विश्राम नहीं ले लिया है, अपितु उनके पास जो अन्य अत्यन्त आनन्द दायक पदार्थ थे उनको भी उनके पास से उठा लिया अतः 'मचाय दियौ घन आनन्द ढोवा' का अर्थ 'आनन्द की दुहाई मचा द करके मिश्रजी ने अर्थ विराम लगाकर जो दूसरा अर्थ 'आनन्द का पूरा साज-सामा किया' लगाया है वह प्रसंग के अनुकूल नहीं बैठता । इस पद में प्रथम पक्ति द्वितीय पक्ति 'और' शब्द द्वारा जुड़ी हुई है और पूर्ण विराम 'ढोवा' शब्द के बाद है । इसलिए 'मचाय दियौ घन आनन्द ढोवा' का अर्थ 'आनन्द का पूरा साज

सामान किया। आनंद की और भी सामग्री उसने खोज कर एकत्र की' न होकर अज्ञानियों के पास जो आनंद देने वाली वस्तुएं थीं उनकी उनके घर से उसने डुलाई प्रारम्भ करदी, अर्थात् अन्य आनन्द दायक वस्तुओं को भी उसने अपहरण कर लिया, होगा।

अलंकार—पूरे सवैया में सागल्यक की व्यवना है। प्रान-अवीरहि—रूपक

विरह्यो किहि दोष न जानि सकौं, जु गयो मन मो तजि रोपन तैं ।  
जिय ता विन यौं अब आतुर क्यों, तब तौ तनकौं विरमायौ न तैं ।  
घनआनंद जानि अमोही महा, अपकाम इते पर त्यागि हतैं ।  
अब बीच पर्दो दुख ज्वाल जरै सठ, को सुख कौ हठि द्वार दतैं ॥६३॥

प्रिय के चले जाने पर विरहिणी अपने मन पर खीमती हुई कहती है कि:—

मुझे पता नहीं कि किस अपराध ( दोष ) के कारण प्रिय ( मुझसे ) विरक्त या उदास हो गये और क्रोध में आकर मेरे मन को ( अर्थात् मुझको ) त्याग कर ( अन्यत्र ) चले गये। ( जब वे यहाँ से गए तब मेरे हृदय ने उनकी तनिक भी चिन्ता नहीं की और न उन्हें जाने से रोका ) परन्तु अब उनके अभाव में यह हृदय व्याकुल हो रहा है। ( अब विरहिणी प्रश्न करती है कि ) हृदय तब तो तूने उसे थोड़ा ( झूठ मूठ को ) भी नहीं रोका ( हो सकता था कि इस प्रकार रोकने से उसका क्रोध शांत हो जाता और वह कहीं न जाकर यहीं रुक जाता ) फिर अब उसके लिए आतुर क्यों हो रहा है ? [ पर सारा दोष विरहिणी के मन का नहीं है। प्रिय की निष्ठुरता भी दोषी है। अतः उस पर प्रहार करती हुई वह कहती है कि ] अत्यन्त आनंद देने वाले ( प्रियतम ) सुखान बहुत बड़े निर्मोही (भी) हैं। वे प्रेम कहे भी, दोनों ओर से इतना घनिष्ठ संबंध होने पर भी ( मुझे ) त्यागकर मारे डालते हैं। अतः हे दुष्ट मन ! ( उनके द्वारा छोड़कर चले जाने पर अब तू न तो इधर का रहा और न उधर का ही। इसलिए दुःख की अग्नि में पड़ा हुआ तू जलता रह अर्थात् दुःख सहन करता रह। [ जब वे मेरा निरादर करके, मुझे त्यागकर चले ही गए ] तो ( अब ) किस सुख के लिये हठ पूर्वक उनके ( प्रियके ) द्वार में चिपकी रहूँ। अर्थात् अब मुझे ( उनके 'महा अमोही' होने के कारण ) उनसे कोई विशेष आशा नहीं रही है।



पूरन प्रेम को मंत्र महापन, जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ ।  
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि यों पचि कै रचि राखि विसेख्यौ ॥  
ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जु आन-कथा न कहूँ अवरेख्यौ ।  
सो घन आनंद जान, अजान लौँ टूक कियौ पर बौचि न देख्यौ ॥६४॥

इस सवैया में हृदय को प्रेम-पत्र बनाया गया है जिसमें पूर्ण प्रेम का महा मंत्र शुद्ध करके भली भाँति लिखा गया है । किन्तु प्रिय उस प्रेम पत्र की गहराई को नहीं जान सका । अतः उसने प्रेमिका के ऐसे हृदय-पत्र को टूँक टूँक कर फेंक दिया । प्रिय के इसी व्यवहार पर खेद प्रगट करती हुई प्रेमिका कहती है कि —

जिस हृदय रूपी प्रेम पत्र में पूर्ण प्रेम का मंत्र ( प्रेम की एकनिष्ठता को ) महान् प्रतिज्ञा के साथ शुद्ध करके भली भाँति लिखा गया है और उसी प्रिय के सुन्दर और विचित्र चरित्रों द्वारा बड़े परिश्रम से कष्ट-सहकर बना कर विशेष प्रकार से रखा गया है उस ऐसे पवित्र हृदय रूपी प्रेम पत्र को, जिसमें ( प्रिय के अतिरिक्त ) किसी दूसरे की बात कहीं पर भी अंकित नहीं की गई, अत्यन्त आनंद देने वाले (प्रियतम) सुजान ने अज्ञ लोगों की भाँति टूँक टूँक कर दिया ( जैसे उसका उनके लिए कोई महत्व ही न हो ) परन्तु उसे पढ़कर नहीं देखा ।

पूरे सवैया से अभिप्राय यह है कि प्रेमिका के हृदय में प्रिय के प्रेम के अतिरिक्त और किसी का प्रेम नहीं था किन्तु प्रिय उसके हृदय को पवित्रता एवं एकनिष्ठता को भली भाँति पहिचान न सका । परिणामतः प्रिय ने प्रेमिका के प्रति निष्ठुरता का व्यवहार किया और उसका प्रेम से परिपूर्ण हृदय अज्ञान व्यक्तियों की भाँति तोड़ दिया । प्रेमिका का प्रेम निष्प्रम प्रेम हो गया अर्थात् प्रेमिका तो प्रिय को चाहती रही परन्तु प्रिय उसके प्रति उदासीन हो गया ।

७<sup>५</sup> अलंकार—हियो-हित-पत्र-रूपक अलंकार । अजान लौँ—उपमा अलंकार

जीव की बात जनाइयै क्यों करि जान कहाय अजाननि आगो ।  
तारन मार के पीर न पावन एक सो मानत रोइयो रागो ।  
एसी बनी घन आनंद आनि तु आन न मूढत सो किन त्यागो ।  
प्राप्त मरैगे भरैगे प्रिया, पे अमोही सो काहु को मोह न लागो ॥६५॥

निरदिशी कहती है कि —

अपने हृदय की बात उससे कैसे कही जाय जो सुजान [ भली भाँति ( हृदय की जानने वाला ) कहला कर भी अजानो ( मूर्खों ) से भी बढ़ कर होता जा रहा है । ( अर्थात् नाम के अनुरूप उस के गुण नहीं हैं ) । वह ( दुःख के ) बाणों से मार कर भी पीड़ा का अनुभव नहीं करता ( अर्थात् मेरे द्वारा इतना कष्ट उठाए जाने पर भी वह मुझ पर दया नहीं करता है ) । ( उसकी निष्पुरुता यही तक सीमित नहीं रहती है बल्कि ) रोना और गाना भी उसके सामने एक से है अर्थात् उसके हृदय में दया उत्पन्न करने की इच्छा से चाहे जितना भी रोयें गायें परन्तु वह द्रवीभूत नहीं होता । उसके ऊपर इन प्रपञ्चों का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता ।

( उसका तो मेरे प्रति यह व्यवहार है किन्तु ) मेरी ऐसी दशा हो गई है कि मुझे उस ( प्रिय ) के अतिरिक्त दूसरा कोई दिखाई ही नहीं देता ( अर्थात् किसी दूसरे की ओर मेरा मुकाब होता ही नहीं भले ही वह ( प्रिय ) मुझको क्यों न त्याग दे ? ) । इस पक्षि से अभिप्राय यह है कि भले ही ( प्रिय ) विरहिणी को छोड़ दे किन्तु उस विचारी को प्रिय के अतिरिक्त और कोई अपना दिखाई ही नहीं पड़ता । इसलिए वह उसको छोड़ नहीं सकती ।

( अन्त में निराश होकर विरहिणी कहती है कि यदि उसका यही व्यवहार चना रहा तो अन्ततोगत्वा ) ये प्राण मरते जायेंगे और व्यथा में दिन काटेंगे किन्तु ( मैं ईश्वर से यही मनाती रहूँगी कि ऐसा न हो कि किसी का अमोही से मोह लग जाय ( अर्थात् मैं चाहती हूँ कि अमोही से किसी का मोह न लगे ) ।

जान—परिकराकुर अलकार ।

तोहि तौ खेल पै मो हिय सैल सो, एरे अमोही विछोह महादुख ।

जाहि जु लागी सुताहि सहैगौ, पै क्यों न पर्यौ लहि तू तो सदा सुख ।

एक ही टेक न दूसरी जानति, जीवन प्राण सुजान किए रख ।

ऐसी सुहाय तो मेरी कहा बस, देहिहौ पीठि दुरादहौ जो मुख ॥६६॥

वियोग के महान कष्ट को सहन करने के लिए प्रिय प्रेमिका को छोड़ गया है । इस पर दुःखी होकर प्रेमिका कहती है कि—

अरे अमोही प्रियतम ! तुमने जो वियोग का महान दुःख दिया है वह

तुम्हारे लिए तो खेल है अर्थात् बड़ी साधरण सी बात है किन्तु मेरे हृदय के लिए बर्छी की भाति कष्टदायक है । अन्तु, जिस पर जो पड़ेगी वह उसे सहन करेगा (अर्थात् यदि मुझ पर विपत्ति आएगी तो मैं उसको सहन कर लूँगी) किन्तु तू (स्वयं) पड़ा हुआ नित्य सुख क्यों नहीं प्राप्त करता है (व्यग्र से इस वाक्याश का अर्थ होगा, तुम्हें मेरी क्या चिन्ता ? तुम आराम उठाते रहो । देखो न, कितनी बढ़िया बात है, मैं कष्ट उठाती रहूँ और तुम सुख भोगते रहो) ।

तुम भले हो बदल जाओ किन्तु मेरी एक ही टैंक है कि जीवन के लिये प्राण के समान प्रिय सुजान की ओर आकृष्ट होकर उनके अतिरिक्त मैं दूसरी बात जानती ही नहीं हूँ । किन्तु इतने पर भी यदि तुम को थिछोड़ का महादुःख देना ही अच्छा लगता है तो फिर मेरा तुम पर क्या बश है (क्योंकि तुम तो अभीप्सित को कर सकने में समर्थ हो) मगर एक बात तुम्हें बताए देती हूँ, यदि आपने अपना मुख छिपाया, यदि मुख मोड़कर तुम मेरे पास से भागे, तो मैं तुम्हारी पीठ देखूँगी (अर्थात् तुम मुझे पीठ दिखा जाओगे अथवा हार जाओगे) । इसलिए इस प्रकार की पराजय न लो और मुझे मुख छिपा कर पीठ न दिखाओ । तुम्हारे लिए यही उचित है )

२

## विरही के नयन

- भोर तें साक लोँ कानन-ओर निहारति बावरी नेकु न हारति ।  
सोँक ते भोर लोँ तारनि ताकिवौ तारनि सो इकतार न टारति ।  
जो कहूँ भावतो दीठि परै घनघाँनद ओसुनि औसर गारति ।  
मोहन-सोँहन जोहन की लगियै रहै ओखिन कै उर आरति ॥६७॥

इस सत्रैश म त्रियोगिन की आठों यानों के क्रिया कलापों का वर्णन है ।

उस (नायिका) के नेत्रों के 'उर' अर्थात् पुतलियों में श्री कृष्ण भगवान को अपने सामने देखने की लालसा (हमेशा) लगी ही रहती है (अतः वह) पगली प्रातः काल से लेकर सायंकाल तक (मधु) वन की ओर दृक्की लगाने देखती रहती है और (देखते-र) कभी हारने का नाम नहीं लेती । (पण्डित दिन भर के बाद शाम को भी कृष्ण जब नहीं आते तो) सायंकाल में लेकर प्रातः काग तक पुतलियों से (आवा में) (आकाश स्थित) नक्षत्रों को लगातार देखने में (अपनी दृष्टि को थोड़े

अमय के लिए भी हटाती नहीं है (अर्थात् रात रात भर तारों को ही निनिमेष खतो रहती है, सोने का नाम नहीं लेती)। इतनी कठिन साधना करने पर भी यदि कहीं मन की ध्रिय लगने वाले प्रियतम प्रत्यक्ष अथवा अम के कारण सामने, देखाई भी दे जाए तो (हर्षातिरेक कारण या आप वीती याद करके, रो उठने से) प्रालुओं को बहाते बहाते हों, रोने धोने में ही, समय निकल जाता है और प्रिय को खने की साध पूरी नहीं हो पाती। एक अन्य कवि की शब्दविली में ऐसे भी कहा जा सकता है कि

आखों में आंसू भर आए  
हाय ! न उनको देख सकी मैं ।”

और (फलस्वरूप) कृष्ण को देखने को लालसा, भूले भटके उनके दर्शन हो जाने पर भी लगी ही रहती है। इस सवैया में “आंसुनि और गारति” का अर्थ “उस समय आंसू गिराने लगती है भी लिया जा सकता है, किन्तु इस पद की तृतीय पंक्ति के ‘जो कहूँ’ और चतुर्थ पंक्ति के ‘लगियैरहै आखिन के उर आरति” पदों से जो यनि निकलनी है, उसे व्यक्ति करने में यह अर्थ पगु है। पद की व्याख्या करते अमय जो अर्थ दिया गया है उससे इन पदों की ध्वनि पर भी प्रकाश पड़ता है।

पूरे पद में प्रतीक्षा में बैठी हुई स्त्री का सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण है। उस अहिर्निश के कार्य कलापो का वर्णन करते हुए कवि ने उस नायिका के प्रति अन्य लोगों की भावना का स्पष्टीकरण ‘बावरी’ विशेषण लगाकर कर दिया है। इस विशेषण में आत्मीयता और सहानुभूति को सी ध्वनि निकलती है जिसमें मुक्त भोगी का हृदय रमता हुआ जान पड़ता है। बयोवृद्धों की भौंति प्रेम भर्त्सना सी करता हुआ कोई यह कहता सा जान पड़ता है कि ‘दिन दिन भर उसकी राह देखती रहती है, जरा भी तो हार नहीं मानती। कितनी मोलौ भाली पागल है। आदि

पद की द्वितीय पंक्ति में विरही की मन स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। प्रायः दुःखित प्राणी को रात में नींद नहीं आती और जब विकलता अधिक बढ़ जाती है तो वह आकाश में तारों की ओर देख उठता है। भव-आतप से व्यथित मन के लिए नीरव अन्धकार में एक मात्र वे ही विश्राम स्थल होते हैं। इससे मिलती जुलती बात प्रसाद जी ने निम्न पंक्तियों में कही है—

तम के सुंदरतम रहस्य हे !

कान्ति किरण रजित तारा ।

व्यथित विश्व के सात्विक शीतल

विन्दु भरे नव रम सारा ।

आतप तापित जीवन सुख की

शातिमयी छाया के देश ।

हे अनन्त की गणना ! देते

तुम कितना मधुमय सदेश ॥ [ कामायनी ]

प्रथम और द्वितीय पक्तियों में 'निहारति, हारति' और 'तारनि तारनि, तारन' शब्दों में यमक अलंकार है। 'मोहन सौहन जोहन' से पद की संगीतात्मकता बढ़ जाती है। यह पद अपनी कोटि के बहुधा उद्धृत उत्कृष्ट पदों में से एक है।

इत भायन भायन भौर भैँ उत चायन चाहि चकोर चकैँ ।

निग्न वासर फूलनि, भूलनि मैं अति रूप की बात न न्यौरि सकैँ ।

घन आनंद धू घट-घोट भए तब वावरे लौ चहुँ ओर लकैँ ।

प्रिय के मुख कौतुक देखि सखी ! निज नैनु विशेष सुजान छकैँ ॥६८॥

प्रिय का मुख प्रेमिका को दृण दृण पर बदला सा प्रतीक हो उठता है। उसके नेत्र कभी उसे कमल और कभी उसे चंद्रमा समझ लेते हैं और अपनी दसी समझ के अनुसार वे कभी भ्रमर और कभी चकोर के समान चक्कर काट उठते हैं। फिर भी प्रिय के मुख का रहस्य वे जान नहीं पाते। इसी को लेकर प्रेमिका अपनी सखी से कहती है कि —

हे सखी ! प्रिय के मुख में कौतुक देखकर मेरे अत्यन्त सावधान नेत्र भी चक्कर में पड़ जाते हैं। एक ओर तो (मुख को कमल मानकर मेरे नेत्र) भावों से भरकर भोरे की भाँति (भोरे होकर) चक्कर काटते हैं। (और) दूसरी ओर (उमे ही चन्द्रमा समझकर) चाँद के साथ प्रेम से देखकर चकोरों की भाँति (चकोर बनकर) चकित होत हैं। [किन्तु वास्तव में मुख (कमल और चन्द्रमा) दोनों में से एक भी नहीं है] क्योंकि वह दिन रात प्रफुल्लित रहता है। कमल कवि-प्रसिद्धि के अनुसार शरान्त के पश्चात् समुचित हो जाता है और चंद्रमा सूर्य के प्रकाश में व्योम हीन हो जाता है। किन्तु प्रिय का मुख कमल रात में भी प्रफुल्लित रहता है और

उसका मुख चंद्र दिन में भी प्रभा पूर्ण रहता है] अतः उसकी इस (अद्भुत) प्रफुल्लिता की छटा पर मुग्ध हो कर मति भ्रम के कारण (मेरे नेत्र) प्रिय के अत्यन्त सौंदर्य की बात का निर्णय नहीं कर पाते । (वे यह नहीं समझ पाते वे उनके मुख को कमल मानें या चन्द्रमा) ।

( जब मुख घूँघट-पट में नहीं होता तब तक तो नेत्र सशय में पड़े रहते हैं और जब ) घूँघट में छिप जाते हैं तो नेत्र पागलों की भाँति चारों ओर देखने लगते हैं (प्रिय का मुख कहा है) ।

इस प्रकार प्रियतम के मुख में यह कौतुक (कभी कमल और कभी चन्द्रमा सा प्रतीत होना) देखकर हे सखी ! अपने ये विशेष रूप से चंचुर नेत्र भी परेशान हो जाते हैं (और कोई निष्कर्ष नहीं निकाल पाते) ।

घेर-घबरानी उबरानी ही रहति घन—

आनंद आरति—राती साधनि मरति है

जीवन आधार जान रूप के आधार बिन,

व्याकुल विकार—भरी खरी सु जरति हैं ।

अतन' जतन तेँ अनखि अरसानी बीर !

प्यारी पीर—भीर क्यों हूँ धीर न धरति हैँ ।

देखियँ दसा असाध अखियाँ निपेटिन की,

भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं ॥६६॥

विरह काल में नेत्रों पर सबसे अधिक कष्ट पड़ता है उनकी ही सब अंगों से अधिक दीन-हीन अवस्था हो जाती है । नेत्रों की इसी दुःखमयी अवस्था का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

रोग के घिराव या आक्रमण से (ये आँखें) ऊब्री हुई ही रहती है अथवा व्याकुल होकर (अश्रुपात ही करती रहती हैं तथा दुःख में रँगी हुई होकर (अर्थात् दुःखित होकर) (प्रिय देखने की) प्रवल इच्छा लेकर मरती ही रहती हैं (अर्थात् इनकी साध पूरी नहीं होती है अतः सदैव व्याकुल रहती हैं) । (ये आँखें) प्राणों के लिए एक मात्र अवलंब सुजान, [प्रिय ( जो स्वयं ) रूप के आधार हैं (अर्थात् अत्यन्त रूपवान हैं) ] के अभाव में नाना विकारों से मर कर, एव व्याकुल होकर अत्यन्त कड़ी जलन में जलती रहती हैं । (साराश यह है कि प्रिय

के दर्शन न होने से इन नेत्रों को बड़ी व्याकुलता है ) । ( तथा ये नेत्र ) हे प्यारी सखी ! कामोपचारों ( अथवा नेत्रोपचारों ) से चिढ़कर ( अथवा रुष्ट होकर ) उदास हो गए हैं ( अर्थात् यत्नों से मुख मोड़ लिया है ) ( इनकी ) सारी चंचलता जाती रही है । इसलिए अथ वेदना की भीड़ के कारण, घनी मूत्र पीड़ा होजाने के कारण, किसी भी प्रकार धैर्य धारण नहीं करते हैं । अथ इनकी अवस्था भस्मक रोग के रोगी जैसी होगई है । अतः अत्यन्त पेटू या अत्याधिक खाने वाली ( अथवा रूप माधुरी-पान करने की अत्याधिक अभिलाषिनी ) इन आँखों की अवस्था को देखिए । इनका रोग असाध्य हो गया है, अन्य किसी भी प्रकार से यह अच्छा नहीं हो सकता है । इन्हें भस्म कर देने वाली व्याकुलता ( अथवा व्यथा ) का सामना करना पड़ रहा है ( अथवा इन्हें भस्मक रोग होगया है । जिसमें स्वाभावतः अधिक भूख लगती है ) परन्तु यहाँ रोग भस्मक है, खाने के नाम पर उपवास । इस रोग में तो अधिक खाते रहने पर भी प्राण सदैव सकट में बने रहते हैं किन्तु यहाँ लघन करने पड़े रहे हैं । अतः रोग असाध्य है इन आँखों का कुशलतापूर्वक रहना कठिन है ।

भस्मी व्यथा या भस्मक रोग — इसके उत्पन्न होने पर रोगी को भोजन शीघ्र पच जाता है अतः उसे भूख बराबर लगी रहती है उसकी क्षुधा शान्त नहीं होती । यही दशा यहाँ पर आँखों की है । वे स्वयं एक तो पेटू हैं, अधिक खाने वाली हैं, थोड़े से उनकी तृप्ति होती ही नहीं । उस पर उन्हें यह भयंकर रोग लग गया है कि जो खाती हैं भस्म हो जाता है । और यहाँ तक बात होती तो मरीज की हालत अच्छी मान लेते । उन्हें इस अवस्था में जबकि अत्याधिक परिमाण में भोजन मिलना चाहिए था नित्य लघन करने पड़ रहे हैं । आँखों को प्रिय को देखते देखते कभी तृप्ति की अनुभूति होती ही नहीं थी चाहे कितना ही उन्हें देखती । रूप तृप्ता बढ़ती ही चली जाती थी ।

एक स्थल पर घनानन्द जी ने स्वयं कहा है ।

“रावरे रूप की रीति अनूप, नयाँ नयाँ लागन दोनों ज्यों नितारिये ।

लौं इन आँखिन बानि अनोखी, श्रवानि क्यहुँ नहि आनि निहारिये ।

जब संयोग काल में तृप्ति नहीं होती यी तो वियोग काल ( अतः ३ दिनों में ) तो उनका इस्वर ही रुक है ।

घनानन्द की पूरी कविता में विषम प्रेम-जन्य वेदना का नीरव हाहाकार प्रवि-  
ध्वनित होता है। प्रेम-जगत में प्रिय की कठोरता अथवा दूसरों के मन को लेकर  
 प्रतिदान में कुछ न देने की भावना ही इस समस्त हाहाकार के मूल में कार्य  
 करती हुई दिखाई देती है। प्रेम की इस विषमता के निरूपण लिए घनानन्द ने  
 विरोधाभास अलंकार का बहुत अधिक सहारा लिया है पर भाषा की मुहावरेदानी में  
 कहीं भी बल नहीं पड़ने पाया है। प्रस्तुत कविच की अन्तिम पंक्ति

“भसमी विथा पै नित लंघन करति हैं ।”

के श्लिष्ट ‘भसमी विथा’ पद में जो आयुर्वेद की जानकारी का पता दिया है  
 उसकी सराहना का यदि व्यर्थ प्रयास न भी किया जाय तो भी ‘भसमी विथा’  
 अपने दूसरे अर्थ को प्रगट करने में असमर्थ नहीं है।

उबरानी ही रहना, साधनि मरना, खरी जलना, धीर न धरना आदि मुहावरों  
 का प्रयोग दर्शनीय है।

अन्तिम दो पंक्तियों में विरोधाभास अलंकार है।

भसमी विथा—श्लिष्ट पद है।

बिकच नलिन लखें सकुचि मलिन होति,  
 ऐसी कछु आँखिन अनोखी उरमनि है।  
 सौरभ समीर आएँ वहकि वहकि जाय,  
 राग भरे हिय में विराज सुरमनि है।  
 जहाँ जान प्यारी रूप-गुन को न दीप लहै,  
 तहाँ मेरे ज्यों परै विपाद सुरमनि है।  
 हाय अटपटी दशा निपट चटपटी सो,  
 क्यों हूँ घन आनंद न सूझै सुरमनि है ॥७०॥

सयोग काल की सुखद वस्तुएं वियोग काल में विपरीत प्रभाव डालती हैं।  
 प्रकृति यहा उद्दीपक रूप में चित्रित की गई है। जो वस्तुएं पहिली सुखद थीं  
 वही सुजान के विछुड़ते ही दुःखद होगईं।

प्रेमी की आँखों में कुछ ऐसी उलझन पड़ गई है, वियोगावस्था में कुछ  
 ऐसी विषम स्थिति होगई है कि खिले हुए कमल को देखकर (आँखें) सकुचित  
 और श्री हीन हो जाती हैं। सुगंधित वायु के आने से प्रेमी की देह जल उठती



के दर्शन न होने से इन नेत्रों को बड़ी व्याकुलता है ) । ( तथा ये नेत्र ) हे प्यारी सखी ! कामोपचारों ( अथवा नेत्रोपचारों ) से चिढ़कर ( अथवा रुष्ट होकर ) उदास हो गए हैं ( अर्थात् यत्नों से मुख मोड़ लिया है ) ( इनकी ) सारी चंचलता जाती रही है । इसलिए अब वेदना की भीड़ के कारण, घनी भूत पीड़ा होजाने के कारण, किसी भी प्रकार धैर्य धारण नहीं करते हैं । अब इनकी अवस्था भस्मक रोग के रोगी जैसी होगई है । अतः अत्यन्त पेटू या अत्याधिक खाने वाली ( अथवा रूप माधुरी-पान करने की अत्याधिक अभिलाषिनी ) इन आँखों की अवस्था को देखिए । इनका रोग असाध्य हो गया है, अन्य किसी भी प्रकार से यह अच्छा नहीं हो सकता है । इन्हें भस्म कर देने वाली व्याकुलता ( अथवा व्यथा ) का सामना करना पड़ रहा है ( अथवा इन्हें भस्मक रोग होगया है । जिसमें स्वाभवतः अधिक भूख लगती है ) परन्तु यहाँ रोग भस्मक है, खाने के नाम पर उपवास । इस रोग में तो अधिक खाते रहने पर भी प्राण सदेव सकट में बने रहते हैं किन्तु यहाँ लघन करने पड़े रहे हैं । अतः रोग असाध्य है इन आँखों का कुशलतापूर्वक रहना कठिन है ।

भस्मी व्यथा या भस्मक रोग — इसके उत्पन्न होने पर रोगी को भोजन शीघ्र पच जाता है अतः उसे भूख बराबर लगी रहती है उसकी क्षुधा शान्त नहीं होती । यही दशा यहाँ पर आँखों की है । वे स्वयं एक तो पेटू हैं, अधिक खाने वाली हैं, थोड़े से उनकी तृप्ति होती ही नहीं । उस पर उन्हें यह भयकर रोग लग गया है कि जो खाती हैं भस्म हो जाता है । और यही तक बात होती तो मरीज की हालत अच्छी मान लेते । उन्हें इस अवस्था में जबकि अत्यधिक परिमाण में भोजन मिलना चाहिए था नित्य लघन करने पड़ रहे हैं । आँवों को प्रिय को देखते देखते कभी तृप्ति की अनुभूति होती ही नहीं थी चाहे कितना ही उन्हें देखती । रूप तृप्ता बढ़ती ही चली जाती थी ।

एक स्थल पर घनानन्द जी ने स्वयं कहा है ।

“रावरे रूप की रीति अनूप, नयाँ नयाँ लागत न्यौ ज्यौँ निहारिये ।

त्यों इन ओखिन बानि अनौखी, अधानि कबहुँ नहि आनि तिहारिये ।

उप सयोग काल में तृप्ति नहीं होती थी तो वियोग काल ( नत के दिनों में ) तो उनका दर्शवर ही रक्त है ।

घनानन्द की पूरी कविता में विषम प्रेम-जन्य वेदना का नीरव हाहाकार प्रति-  
पन्नित होता है। प्रेम-जगत में प्रिय की कठोरता अथवा दूसरों के मन को लेकर  
प्रतिदान में कुछ न देने की भावना ही इस समस्त हाहाकार के मूल में कार्य  
करती हुई दिखाई देती है। प्रेम की इस विषमता के निरूपण लिए घनानन्द ने  
विरोधाभास अलंकार का बहुत अधिक सहारा लिया है पर भाषा की मुहावरेदानी में  
कहीं भी बल नहीं पड़ने पाया है। प्रस्तुत कविता की अन्तिम पंक्ति

“भसमी विद्या-पै नित लंघन करति है ।”

के श्लिष्ट ‘भसमी विद्या’ पद में जो आयुर्वेद की जानकारी का पता दिया है  
 उसकी सराहना का यदि व्यर्थ प्रयास न भी किया जाय तो भी ‘भसमी विद्या’  
 अपने दूसरे अर्थ को प्रगट करने में असमर्थ नहीं है।

उबरानी ही रहना, साधन मरना, खरी जलना, धीर न धरना आदि मुहावरों  
 का प्रयोग दर्शनीय है।

अन्तिम दो पंक्तियों में विरोधाभास अलंकार है।

भसमी विद्या—श्लिष्ट पद है।

बिकच मलिन लखें सकुचि मलिन होति,  
 एसी कछु अँखिन अनोखी उरमनि है।  
 सौरभ समीर आएँ वहकि दहकि जाय,  
 राग भरे हिय में विराज सुरमनि है।  
 जहाँ जान प्यारी रूप-गुन को न दीप लहै,  
 तहाँ मेरे ज्यों परै विपाद सुरमनि है।  
 हाय अटपटी दशा निपट चटपटी सो,  
 क्यों हूँ घन आनंद न सूझै सुरमनि है ॥७०॥

सयोग काल की सुखद वस्तुएं वियोग काल में विपरीत प्रभाव डालती हैं।  
 प्रकृति यहा उद्दीपक रूप में चित्रित की गई है। जो वस्तुएं पहिली सुखद थीं  
 वही सुजान के विछुड़ते ही दुःखद होगईं।

प्रेमी की आँखों में कुछ ऐसी उलझन पड़ गई है, वियोगावस्था में कुछ  
 ऐसी विषम स्थिति होगई है कि खिले हुए कमल को देखकर (आखें) संकुचित  
 और श्री हीन हो जाती हैं। मगंधित वायु के आने से प्रेमी की देह जल उठती

है, वह सुख बुध खोदेता है तथा उसका प्रेम से भरा हुआ हृदय उदासीनता के कारण मुरझा जाता है। ( अर्थात् प्रतिकूल परिस्थिति में उल्लुल्ल कर देने वाली सुरभित पवन से भी विरही के मन में हर्षोल्लास का सञ्चार नहीं होता। ) संयोग काल में 'कमल, सौरभ-समीर आदि प्रेम के उद्दीपक होते हैं। वियोग काल में इनसे दुःख की भावना उद्दीप्त होती है। ) जहाँ पर प्रियतमा सुजान के रूप-गुण का प्रकाश नहीं मिलता ( जहाँ पर वह दिखाई नहीं देती ) वहाँ मेरे हृदय में दुःख की गाँठ पड़ जाती है ( मन में शोक की कालिमा छा जाती है। शोक का रंग कवि प्रसिद्धियों में काला माना गया है ) इस प्रकार दुःख के प्रबल वेग से दशा अत्यन्त विलक्षण होगई है। घनानन्द जी कहते हैं कि किसी प्रकार भी सुलभत्व का कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता।

रीति काल के प्रायः सभी कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही लिया है। उस काल के कवियों की रचनाओं में प्रकृति के सश्लिष्ट चित्रण का प्रायः अभाव है। घनानन्द जी ने भी प्रकृति से समयानुकूल भावनाओं को उद्दीप्त कराने का ही कार्य लिया है।

अलंकार—सौरभ समीर आए बहकि दहकि जाय—विषम अलंकार। राग-भरे हृदय में विराग-गुरुभक्त है—विरोधाभास। जहाँ जान प्यारी रूप-गुण को न दीप लहै—वक्ति में 'रूप' एवं 'गुण' शब्द श्लिष्ट है।

पाप के पुज सकेलि सु कौन धौ आन घरी मैं विरचि बनाई।

रूप की लोभनि रीझि भिजाय कै हाय इने पै सुजान मिलाई।

क्यों घनानन्द धीर धरे बिन पौख निगोदी मरें अकुलाई।

प्यास भरी बरसैं तरसैं मुख देखन कौं अखिया अकुलाई ॥७१॥

वियोग काल में शरीर के प्रायः सभी अवयवों को कुछ न कुछ कष्ट उठाना पड़ता है। किन्तु इसमें नेत्रों की दुर्गति सबसे अधिक है। आँखों की इसी दुर्दशा का वर्णन करता हुआ प्रेमी कहता है—

न जाने कौन सी दूसरी ( मिलच्छण ) उरी घड़ी में पाप के समूहों को एकत्र करके ( इनके भाग्य में पाप ही पाप लिख कर ) तब ने ( इन आँखों ) का निर्माण किया है। ( एक तो ये स्वयं ) रूप का लोभ करने वाली हैं, उस पर  
नेत्रों का बना गया और फिर ले जाकर सुजान की आँखों से मिला दिया

या। धनानंदजी कहते हैं कि ज्ञात्री अब ये आँखें भला किस प्रकार धैर्य धारण रें? अब तो ये निगोड़ी आँखें पखों के अभाव में (सुजान के चले जाने पर उनके स तक पहुँचने में असमर्थ होने के कारण निश्चित रूप से ही) आकुल हो होकर र जायँगी। रूप की प्यास से मरी होने पर (अब सुजान के वियोग में) ये अन्तर बरसती रहती हैं। [ भाग्यश ये प्रेम में भीग कर सुजान की आँखों से ल गई थी किन्तु उसी सुजान के ] मुख को देखने के लिए अब ये दुख की री हुई आँखें तरसती रहती हैं। (अतः इनका बचना कठिन है।)

“हाय इते पै” वाक्याश में बहुत अधिक शक्ति है। इसी वाक्याश से ‘रूप ो लोमिनि’, ‘रीझ में भीगी’ हुई तथा ‘सुजान की आँखों से मिली हुई’ आदि शेषताएं ‘पाप के पुज’ बन जाती हैं।

प्यास-मरी बरसें—जो स्वयं प्यासी हैं, जिनके पास स्वयं अपनी तृप्ता शान्त रने के लिए जल का अभाव है वे क्या बरसेंगी? विरोध अलंकार है

## नेत्रों की दशा

पहिले धनानंद सींचि सुजान कहीं बतियाँ अति प्यार-पगी  
अब लाय वियोग की लाय, बलाय छड़ाय, बिलास दगानि दगी  
अँखियाँ दुखियानि कुवानि परी, न कहूँ लगै, कौन घरी सु लगी  
मति दौरि थकी, न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी।

सुजान के कष्ट मय व्यवहार पर खेद प्रगट करता हुआ कवि अपनी र्णन कर रहा है—

पूर्वकाल (संयोग काल) में सुजान ने आनंद के बादलों से सींच सींच कर अत्यन्त स्नेह से मरी हुई बातें कहीं। पर अब विरह की अग्नि लाकर और विपत्ति को बढ़ा कर कष्ट मय व्यवहार से, उन विश्वासों को दग्ध कर दिया है। इस अवस्था में भी मेरी दुःखिया आँखों को आराम नहीं है। उनकी एक बुरी आदत पड़ गई है कि उनको कुछ भी सुहाता ही नहीं अथवा वे कभी लगती ही नहीं अर्थात् भापकी या नौदं किनारा कर गई है। न जाने कैसा समय आगया है (कैसी बुरी) घड़ी लग गई है कि उनकी ये दशा है। (मेरी) बुद्धि तो दौड़ दौड़ कर, विचार कर कर हार गई। कहीं ठिकाना नहीं मिलता (क्यों कि ये अमोही (सुजान) के

निकट का सम्बन्ध स्थापित करके, रसते रहते हैं, प्रेम रस बरसाते रहते हैं ( मेघ के पक्ष में 'रसते' का अर्थ होगा जल बरसाते रहते हैं ।) हमारी इन ओखों में उजड़न बस गई है (अर्थात् विरह की तीव्रता के कारण ओखें मलिन एवं उदास हो गई हैं । किन्तु वह हे मन भाने वाले प्रियतम ! जिस सुस्थल पर आप इस समय निवास कर रहे हैं भली भोति बसा हुआ है (अर्थात् आप जहाँ पर जाकर बस गए हैं वहाँ पर सुन्दर बस्ती बस गई है । और आपके पहिले निवास स्थल नेत्र-प्रान्त उजड़ गए है )

अलंकार—दु ख तम-पु जनि-रूपक

जीव सोच सूखै गति सुमिरें अनदघन-आनद देने वाले मेघ की गति का याद कर करके प्राणों के सूखने में विरोधाभास अलंकार है ।

अनदघन—( १ ) अत्यन्त आनद देने वाले प्रियतम का विशेषण ( २ )

आनददायक मेघ—श्लेष ।

धुरि कै—( १ ) धुल धुल कर, द्रवित होकर के ( २ ) धुल मिल कर, निकट का संबन्ध स्थापित करके । श्लेष अलंकार ।

रसत हो—( १ ) प्रेम की वर्षा करते हो ( २ ) जल की करते हो । श्लेष अलंकार ।

“उजरनि बसी है” जहाँ कोई वस्तु बसी है वह उजाड़ खण्ड नहीं हो सकता है अथवा जो जगह उजड़ गई है वहाँ कुछ बसा नहीं रहता । अतः ‘उजरनि बसी’ में विरोध अलंकार है । सुखनि समाज साज सजे हित सेवै सदा-अनुप्रास ।

## नेत्रों की बरसात

घनआनंद जीवन मूल सुजान की कौंधन हू न कहूँ दरसै ।

सु न जानियै धौ कित छाये रहे दृग-चातिग प्राण तपे तरसै ।

(सुखनि) विन पावस तो, इन ध्यावस होन, सु क्यों करि ये श्रव सो परसै ।

बदरा बरमें रितु में घिरि कै नित ही अखियाँ उघरी बरमें ॥७५॥

जल गिरण करने वाले अथवा प्राणों के मूल आनन्द के मेघ के समान सुजान निज्जी की चमक की भांति क्षण भर के लिए भी कहीं दिग्विहारी नहीं आते । ( कभी उनके क्षण भर की भी दर्शन नहीं होते ) पता नहीं वे कितनी दूर

रहे है अर्थात् न मालुम वे किस पर प्रसन्न होकर किस स्थान पर जाकर रह उठे हैं। यहा उन आनन्द घन जीवन मूल सुजान के लिए मेरे दृग रूपी चातकी के प्राण जा रहे हैं, प्यास से व्याकुल हो रहे अथवा विरह में जल रहे हैं ( और मिलन के अभाव में ) तरस रहे हैं। जब तक वर्षा ऋतु नहीं आई थी तब तक ( इन नेत्र रूपी चातकी की ) धैर्य नहीं था यानी तब भी देखने को आकुल थे परन्तु अब वर्षा ऋतु आ गई है फिर भी बादल रूपी सुजान नहीं हैं तो अब वे उस वर्षा ऋतु को कैसे स्पर्श करें ( जो कि विरहिनों को कवि परम्परा में दुखदायिनी एवं कामोद्दीपक कही गई है ) ( अतः अब सिवाय रोने के और कोई चारा ही शेष नहीं है और इस प्रकार ये नेत्र बादलों से भी बढ चढ कर होगए है क्योंकि ) बादल तो वर्षा ऋतु आने पर ही इकट्ठे होकर बरसा करते हैं परन्तु ये ओखे ( प्रियतम का मार्ग देखती देखती ) खुली रह कर नित्य ही बरसती रहती हैं।

अलंकार—घन आनन्द, जीवन मूल—श्लेष। दृग-चातिग-प्राण—रूपक।  
तबे तरसैं, बदरादरसै—अनुप्रास। धिरि कै उधरी—विरोधाभास।

बदरा बरसै रितु में धिरि कै नित ही.....व्यतिरेक।

अंतर-आँच उसास तचै अति, अंग उसीजै उदेग की आवस।

ज्यौ कहलाय मसोसनि उमस क्यौ हूँ कहूँ सु धरै नहिँ ध्यावस।

नैनउ धारि दिये बरसै घन आनंद छाई अनोखियै पावस।

जीवन मूरति जान को आनन है विन हेरे सदाई अभावस ॥७६॥

वियोगावस्था में विरही पर क्या बीतती है और साधारण प्रकृति के व्यापार उसे अपनी अवस्था की तुलना में किस प्रकार हीन लगते हैं इसी को लेकर कवि कहता है—

(वियोग जन्म) हृदय-स्थिति अग्नि (कीऊष्मा) से उच्छ्वास तक अत्यन्त गर्म हो गए है और व्याकुलता की भाप से (सारा) अंग उबला जाता है। विरह जन्म ऐसी प्रणव्ड गर्मी के कारण जीव मसोसने की उमस से व्याकुल है (अब वह) किसी भी प्रकार और किसी भी स्थान पर धैर्य नहीं रखता है (निरन्तर व्याकुलता ही व्याकुलता उसकी सम्पत्ति होगई है) हृदय एवं जीव की ही दुर्गति हो ऐसी बात नहीं। अंग अंग व्याकुल है। नेत्र भी निरन्तर अश्रुधारा बरसाते हुए बरसते रहते हैं घनानन्द कहते हैं कि (इस दृश्य को देखकर प्रतीत होता है कि मानों) अनोखी

बरोनिया ओलती के समान टपकती रहती है। अर्थात् आसुओ का बरसना रुकता नहीं है।

इस सवैया में सावन महीने का हमेशा बना रहना बताया गया है। र ही प्रकृति के एक बड़े व्यापार को विरहाकुल मानव की परिस्थितियों के साथ व ही कुशलता से बिठाया गया है। इस प्रकार सागरूपक का अच्छा निर्वाह हो है। जब सूर्य की प्रचण्डता से आकाश मण्डल तप्त होजाता है तब समुद्र अनवरत भाप उठने लगती है। आकाश में एकत्रित हो वह मेघों का रूप धार कर लेती है और अवसर आने पर मेघ जल-बरसा कर दिया करते है। प्रकृति इसी व्यापार को उक्त सवैया में समेटा गया है। यहां विरह उष्णता देने वाला है जिसकी उष्मा से विरहिणी का सारा शरीर दग्ध हो उठता है। परिणामतः ह की अत्यधिक विकलता के कारण नेत्रों में बरबश आसू आजाते है।

अन्तिम पंक्ति 'नित सावन दीठि सुवैठक में टपके बरनी तेहि ओलतिया' सुंदर कल्पना की गई है। वैठको पर जो छप्पर पड़े होते हैं उन पर जब वर्षाकाल पानी बरसता है तो दुरक दुरक कर वह ओलती से गिरता रहता है। ठीक व चित्र विरहणी के आसुओ से भरे नेत्रों का है। साथ ही व्यंजित है कि नायिका अर्द्ध निमीलित किए हुए विसूती रहती है। अथ खुले नेत्रों में बरोनियों स्थिति छप्पर की भांति ही हो जाती है।

इस सवैया में आए हुए प्राकृतिक व्यापार को ही लेकर लिखी गई स्व ज शंकर प्रसाद की निम्न पंक्तियों की दर्शनीय है।

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।

दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई॥

अलंकार—पूरे पद में सागरूपक अलंकार है। उबरे बरसें—विरोधाभास।

## विरही की दशा

ही अकास मधि अवधि गुने बढ़ाय,

चोपनि चढ़ाय दीनों, कीनों रेल सो यहै।

कटोर ये हो ऐँचत न थाप-ओर

सादिले सुनान सो दुहेली दमा को कहै।

अचिरज भई मोहिं भई घनआनंद यों

हाथ साथ लाग्यौ, पै समीप न कहुं लहै ।

विरह-समीर की झकोरनि अधीर नेह

नीर - भीज्यों जीव, तऊ गुडी लौं उड्यौ रहै ॥७६॥

इस कवित्त में चित्त के उड़े उड़े से रहने की अवस्था को लेकर पतंग के उड़ने से सावयव रूपक बाधा गया है—

( हे प्रिय ! तुमने ) आशारूपी आकाश के मध्य में अवधि रूपी डोर को जड़ाकर बड़े चाव के साथ मेरे चित्त को उड़ा दिया है और इस प्रकार यह पतंग के जैसा खेल रच रखा है । पर आप अत्यन्त कठोर हैं ( चित्त को उड़ा तो दिया पर अब मुख मोड़ कर बैठ गए उसे उतारते नहीं ) उस पतंग रूपी चित्त को अब अपनी तरफ खींचते ही नहीं । हे प्रिय सुजान ! ( मुझ पर जो वीत रही है उस ) दुख की दशा को आपसे कौन कहे ? ( चित्त यदि ठीक ठिकाने हो तो मन की बात कही भी जाय । ) घनानन्द जी कहते हैं कि आश्चर्य्य मुझे इस बात है कि ( अवधि रूपी पतंग की ) डोर सुजान के हाथ में है किन्तु हाथ से लगी रहने पर भी ( बिना खींचे हुए ) कभी उनके समीप नहीं आ पाती ( और अब धीरे धीरे परिस्थितिया भी प्रतिकूल हो चलीं हैं । ) यह जीव रूपी पतंग विरह रूपी वायु के झोंकों से अधीर होकर, स्नेह रूपी जल से भीगा हुआ होने पर भी, पतंग की भाँति ( हमेशा ) उड़ा उड़ा रहा करता है ।

इस पद में पतंग उड़ने की सारी क्रियाओं का आरोप, 'चित्त उड़ना' मुहावरे को ध्यान में रखकर चित्त पर किया गया है । पतंग आकाश में डोर के सहारे उड़ा करती है और जब तक खींची नहीं जाती तब तक अघर में उड़ती रहती है । डोर के हाथ में होने पर भी पास नहीं आसकती । तेज वायु में अधीर होकर इधर उवर तेजी से सरसराती हुई चक्कर काटती रहती है । उसी प्रकार यह चित्त भी आशा के आकाश में अवधि की डोर पर उडता है । जब तक सुजान अवधि को अपनी ओर नहीं खींचते अर्थात् नहीं प्रयत्न तब तक चित्त ठिकाने नहीं आता और न प्रेमिका के सुजान का संयोग ही प्राप्त कर पाती है । अवधि का घटना बढ़ाना अथवा आना न आना सुजान के हाथों में है पर भी वे आते नहीं । फिर मैं कैसे उनका सामीप्य ग्रहण कर सकूँ ।



इस कवित्त में कई मुहाविरों का प्रयोग हुआ है (१) गुन बढ़ाना, (२) चोप चढ़ाना, (३) खेल करना, (४) दशा कहना, (५) हाथ लगा होना, (६) समीप न लहना ।

अलकार—हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लहै—विरोधाभास । आस हो अकास मधि, अग्रधिगुनै, विरह—समीर, नेह—नीर—रूपक । गुड़ी लौ—उपमा । नेह नीर भीज्यौ जीय, तऊ गुड़ी लौ उड़्यो रहै—विभावना ।

चोपनि चढ़ाय, दुहेलीदसा—अनुप्रास ।

जेतो बट सोधौ पै न पाऊँ कहाँ आहि से धौँ,  
की धौँ जीव जारै अटपरी गति दाह की ।  
धूम कोँ न धरै, गात सीरो परै ज्योँ ज्योँ जरै,  
~~सुख~~ हरै नैन-नीर वीर । हरै मति आह की ।  
जतन बुझे हैं सब जाकी कर आगेँ अब,  
कयहुँ न दवै भरी भभक उमाह की ।  
जब तें निहारे घन आनंद सुजान प्यारे,  
तब तें अनोखी आगि लागि रही चाह की ॥८०॥

इस कवित्त में प्रेम की आग सामान्य आग से विलक्षण बतार्द गई है —

मैं जितना ही उसे अपने शरीर में खोजती हूँ ( उतना ही जान नहीं पाती कि वह कहाँ पर है । ( जब उसका पता नहीं है फिर ) मेरे प्राणों को कौन जला रहा है ? ( यह भी नहीं जान पाती ) परन्तु इस ज्वनन की गति बड़ी विलक्षण

इसकी लपटों के आगे सारे प्रयत्न समाप्त हो चुके हैं फिर भी, अभी तक इसकी उमंग से मरी भभक कभी दबती ही नहीं ( अर्थात् इसकी लपटें निरंतर प्रचण्ड रूप ग्रहण करती जाती हैं ।

और यह प्रेम का अनोखी अग्नि, मेरे हृदय में जब से आनंद के बादल सुजान प्रियतम को देख। है तभी से लगी हुई है ( समाप्त नहीं होती है )

अलंकार—पूरे छंद में व्यतिरेक अलंकार के माध्यम से सामान्य आग से प्रेमाग्नि को बड़ा चढ़ा बताया गया है ।

सोघों, सो घी—यभक अलंकार । घन आनंद—श्लिष्ट पद है ( १ ) आनंद के बादल ( व, कवि का नाम ) घनआनंद को देखकर आग लगने में विरोध अलंकार है ।

अंतर उदग दाह, आँखिन प्रवाह—आंसू,

देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है ।

सोइवो न जागिवो हो, हँसिवो न रोइवो हू,

खोय खोय आप ही मैं चेटक लहनि है ।

जान प्यारे प्राननि वसत पै अनंदघन,

विरह—विषम—दसा मूक लों कहनि है ।

जीवन मरन, जीव भीच बिना बन्यौ आय,

हाम कौन विधि रची नेही की रहनि है ॥८१॥

प्रेमी किस प्रकार रहता है प्रेमातिरेक में उसकी कैसी अवस्था हो जाती है, इसी का वर्णन कवि इस कविच में करता है । विरहकाल में प्रणयी के हृदय में एक ओर उद्वेग की जलन होती है दूसरी ओर नेत्रों में रुदन-जल का प्रवाह होता है । उसके लिए सोना और जागना, हँसना और रोना दोनों एक से हो जाते हैं । उसे बिना प्राण के जीना पड़ता है और बिना मृत्यु के मरना पड़ता है । उसकी गणना न तो जीने वाली में की जा सकती है और न मरे हुए में ।

प्रेम की ( गति ) बड़ी विलक्षण है जिसमें भीगना और जलना दोनों ( परस्पर विरोधी क्रियाएँ एक साथ ) पाई जाती हैं हृदय में उद्वेग की जलन होती है, और नेत्रों से अश्रु प्रवाह बहता रहता है । ( उस अवस्था में ) न सोना आता है और न जागना । मन उड़ा उड़ा सा रहता है । प्रेमी अपने आप में खोजता है, अपनी ही विचारधारा में लीन हो जाता है । इस प्रकार उस ( प्रेमी ) को जादू

का सा लाभ हो जाता है। जादू करने वाले जैसे नकली रूप पैसे दिखाते हैं पर वह केवल दृष्टि भ्रम होता है वैसे ही प्रेमी अपने आर में खोकर केवल भ्रम ही प्राप्त करता है। [ अथवा “खोय खोय चेतक लहनि हैं” क्रीतदास होजाने का लाभ है—अपने को खोकर दासता का लाभ होता है अपनी सुघ बुध भूल कर मैं उनका दास हो जाता हूँ ] धनानन्द जी कहते हैं कि प्रियतम सुजान प्राणों में निवास करते हैं। व मेरे हृदय में बसे हुए हैं इतने समीप होने पर भी इस मन में ही बसे हुए होने पर भी, ‘खरक’ ( चिन्ता ) अन्य विरह की विषम अवस्था का वर्णन गूँगे के कथन के समान है। जिस प्रकार गूँगा किसी वस्तु का अनुभव कर सकता है परन्तु उसे व्यक्त नहीं कर सकता है, उसी प्रकार विरह की जो विषम अवस्था है, विरही उसकी पीड़ा का अनुभव तो करता है, किन्तु उसे पूर्णतया व्यक्त नहीं कर पाता। इस अवस्था में स्वयं विरहो की यह दशा हो जाती है कि उसे प्राण के बिना ही जीना पड़ता है और मृत्यु के बिना ही मरण स्वीकार करना पड़ता है। प्रेमी के रहने का यह ढंग ( जिसमें बिना प्राणों के जीना पड़ता है और बिना मृत्यु के मरना पड़ता है ) कैसा विलक्षण बनाया गया है।

विशेष “जान प्यारे प्राननि बसत पै अनदयन” उक्त पंक्ति में ‘पै’ शब्द का अर्थ फिर भी ‘इतने पर भी’ करके आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ‘धनानन्द कवित्त’ के ३६ सव्यक पद की पाद-टिप्पणी में इस पंक्ति का अर्थ ‘ऐसी दशा होने पर भी प्रिय प्राणों में बसे हुए हैं’ किया है। परन्तु जो भावार्थ पूरे पद से अभिप्रेत है उस अर्थ तक मिश्र जी का यह अर्थ हमें नहीं ले जाता। इस अर्थ में शक्ति ( १०१०७ ) की भी कमी लगती है। क्या प्रेमी इस दुःखमयी अवस्था में प्रिय को हृदय से निकालना चाहेगा ? जिस प्रिय के लिए प्रणयि ने सब कुछ छोड़ दिया उसी के अपने ‘प्राणों में बसे हुए’ होने पर वह आपत्ति करे, यह उचित नहीं लगता। यह बात स्वयं धनानन्द जी की भावना के अनुकूल भी नहीं है। उनके विषय में धनानन्द कवित्त के सग्रहकर्ता और उनके काव्य के प्रशान्तिकार ब्रज नाथ ने एक स्थल पर कहा है कि

‘चाह के रग में भीजौ’ ‘हियौ गिहुरें—मिलें प्रातम मानि न माने ।’

तथा स्वयं धनानन्द जी ने अव्यय लिखा है—

अ गोपी हितग दैया ? निदुरै तौ मिल्यौ चाहै,

मिले हूँ मैं मारे जारै, सरस निदोह की।

तात्पर्य यह है कि घनानंद जी सयोगकाल में भी भावी प्रियोग की आशका से प्रशान्त बने रहने वाले जीवों में से थे और विरोधाभास प्रस्तुत करना उनकी एक ग्यान प्रवृत्ति थी। इन दोनों प्रवृत्तियों का सहारा लेकर जब उक्त पंक्ति का अर्थ किया जाता है तो भिन्न जी का अर्थ अधिक प्रभावोत्पादक नहीं प्रतीत होता।

अटपटो चाह भीजनि दहनि है—विरोधाभास। खोय खोय—पुनरुक्ति प्रकाश  
बोय खोय आप ही मैं चेटक लहनि है—विरोधाभास। चेटक—श्लेष।

‘जीवन मरन जीव मोच विना क्यौ आय’ यथा संख्य अलंकार।

उठि न सकत, ससकत नैन—वान—बिंधे,  
इते हू पै विषम विषाद जुर लू बरै।  
सूरे पन पूरे हेत खेत तैं हटैं न कहूँ  
प्रीत—बोझ बापुने भए हैं छवि कूबरे।  
संकट समूह में विचारे घिरे घुटै सदा,  
जानी न परत जान। कैसेँ प्रान ऊबरे।  
नेही दुखियानि की यहै गति अनन्दघन,  
चिन्ता मुरझानि सहेँ न्याय रहैं दूबरे ॥८२॥

इस कवित्त में दुःखी प्रणयियों की अवस्था का वर्णन किया गया है। उनकी वियोग काल में बड़ी ही दुर्दशा हो जाती है। कवि कहता है कि—

( अपनी वियोग-विषाद जन्य क्षीणता की अधिकता के कारण प्रेमियों की ऐसी अवस्था हो जाती है कि ) वे उठने में भी असमर्थ हो जाते हैं और नेत्र लपी बाँणों से आवद्ध होकर ( वेदना से ) सिसकते रहते हैं। इतने पर भी ( इतनी कष्ट दशा होने पर भी ) विषम विषाद का ज्वर लपट की भाँति जलाता ही रहता है। ( ये प्रेम-जीर ) अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में शूर ( के सदृश ) हैं। प्रेम-क्षेत्र से कहीं भी ये पैर पीछे नहीं हटाते ( यद्यपि ) बेचारे प्रेम के भार से दबकर कुबड़े ( तक ) हो गए हैं। ( प्रेम के बोझ को वहन करते-करते उनके कुव्वड नेकल आया है उनका शरीर देखने में बुरा लगने लगा है, अंग भंग सा हो गया है। ) वे विचारे विपत्तियों के जाल से आवृत होकर सदा झुक्ते ही रहते हैं, ( फिर भी उनको मृत्यु नहीं आती अतः ) समझ में नहीं आता कि हे सुजान !

इन प्रेमियों के प्राणों का किस प्रकार उद्धार होता है ? ( ये कैसे इतने कष्टों में पड़े रहने पर भी मरने से बच जाते हैं ? )

घनानन्द जी कहते हैं । ( कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ससार में ) ( सर्वत्र ) दुखी प्रेमियों की यही दशा है । ( उनके भाग्य में यही पड़ा है कि वे सदा ) चिन्ता की शिथिलता को ( जीवन भर ) सहन करते रहें और सदैव दुर्बल ( ही ) बने रहें । उनके लिए यहो न्याय है ( अर्थात् हमेशा चिन्ताओं से घिरा रहना तथा सदा दुर्बला रहना ही, प्रेमियों के लिए उचित है ) ।

सोएँ न सोयवो, जागोँ न जाग, अनोखियै लाग सु आँखिन लागी ।

देखत फूल, पै भूल भरी यह सुल रहै नित ही चित जागी ।

चेष्टक जान—सजीवन—मूरति रूप—अनूप महारस—पागी ॥८३॥  
कौन वियोग दसा घनआनंद, मो मति सग रहै अति सागी ॥८३॥

विरहिणी प्रलाप करती हुई कहती है कि ( वियोग की इस विचित्र दशा के कारण मुझ से ) न तो सोने पर सोते बनता है और न जागने पर जागते ( अर्थात् न तो ठीक प्रकार से नींद ही आती है और न जागने पर जागरण काल की चेतना ) । ( पता नहीं कौन सी ) विलक्षण ( प्रेम ) की लगन नेत्रों में लग गई है कि ( जब तक ये आँखें ) प्रियतम को देखती रहती हैं तब तक इन्हें आनन्द मिलता रहता है और उनके अभाव में, दर्शन न होने पर ) चित्त में भूल का विचार करके ( प्रिय के द्वारा अपने को भूल जाने का स्मरण करके उस से उत्पन्न ) वेदना इनमें नित्य प्रति छाई रहती है ( अर्थात् प्रिय की उदासीनता के कारण वेदना मन से कभी हटती ही नहीं ) । ( इतने पर भी ) अपने रूप की तुलना में अनुपम ( अद्वितीय ) एवं अत्यन्त रस में पगी हुई, प्रिय की जीवनदायनी मायाविनि मूर्ति ( मन से हटती नहीं ) ।

घनानन्द जी कहते हैं कि इस दुःखद अवस्था से निश्चित होकर विरहिणी पुकार रही है कि पता नहीं यह वियोग कैसा विलक्षण है ( अथवा वियोग की दस अवस्थाओं में से कौन सी अवस्था आकर मुझ से लग गई है ) कि मेरी मति के साथ ( अर्थात् मेरे मन में ) प्रिय की उपर्युक्त मूर्ति के ध्यान में बने रहने पर भी ( प्रिय के भावात्मक सयोग के रहते हुए भी ) मुझे वियोग का दुःख उठाना पड़ता है ।

मरिबो विसराम गनै वह तौ यह बापुंरो मीत तज्यौ तरसै ।

वह रूप घटा न सहारि सकै यह तेज तबै चितवै बरसै ।

घनआनन्द कौन अखोखी दसा मति आवरी बावरी है थरसै ।

विछुरे मिले मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति कों परसै ॥२४

प्रस्तुत सवैया में कवि मिलन और विछोह के प्रसिद्ध प्रतीक शलभ एवं मछली के प्रेम से, अपने प्रेम को श्रेष्ठ प्रतिपादित करता हुआ कहता है कि—

मीन यदि जल से वियुक्त हो जाए तो वह मरण को विश्राम स्थल ( अथवा कष्टों का अन्त कर देने वाला ) समझ लेती है । परन्तु यह बेचारा मन ( ठीक उन्हीं परिस्थितियों में आजाने पर भी ) अपने मित्र ( प्रिय ) के द्वारा त्याग दिए जाने पर भी ( उससे झिझु कर मर जाने के स्थान पर केवल ) तरसता ही रहता है । अतः उसकी स्थिति मीन की स्थिति से अधिक कष्टदायक है । ( दूसरी ओर ) शलभ दीपक के सौंदर्य को शोभा ( के लोभ ) को संवरण नहीं कर पाता ( और दीपक से उठती हुई अनलशिखा पर गिरकर अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है । इस प्रकार मरण-लाभ प्राप्त करके वह अपने कष्टों, अन्त कर देता है ) परन्तु यह ( विरही मन ) प्रिय के तेज को, ( उसकी अग-दीप्ति को ) देखकर तपता रहता है अर्थात् उसे ( अग-छवि को ) निर्निमेष देखता रहता है और नेत्रों से आसू भी बरसाता रहता है । घनानन्द जी कहते हैं कि ज्ञात नहीं होता है कि मेरे प्रेम की अवस्था कैसी विलक्षण है जो यह मति आकुल एवं पागल होकर त्रस्त हो जाती है ( और इस मन को कहीं विश्राम नहीं मिलता ) । अतः विछोह और मिलन के प्रेमादर्श के प्रतीक मीन और पतंग की अवस्था को यदि मेरे प्रेम का उपमान बनाया जाय तो वह अनुचित है । इन दोनों की ही प्रेम-गति मेरे हृदय की दशा को स्पर्श नहीं करती । ( अर्थात् वियोग में मीन की और सयोग में पतंग की जो अवस्थाएं हो जाती हैं वे मेरी इन सयोग और वियोग की दशाओं के लेश मात्र को भी नहीं पहुँचती ) ।

इस सवैया में ‘विछुरन मीन की औ मिलन पतंग की’ के प्रेमादर्श को अस्वीकार किया गया है । इस विषय में विशेष जानकारी के लिए तीसरे सवैया की टिप्पणी देखिए ।

अलंकार—पूरे सवैया में काव्यलिंग पुष्ट व्यतिरेक अलंकार है ।

इन प्रेमियों के प्राणों का किस प्रकार उद्धार होता है ? ( ये कैसे इतने कष्टों में पड़े रहने पर भी मरने से बच जाते हैं ? )

घनानन्द जी कहते हैं । ( कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ससार में ) ( सर्वत्र ) दुखी प्रेमियों की यही दशा है । ( उनके भाग्य में यही पड़ा है कि वे सदा ) चिन्ता की शिथिलता को ( जीवन भर ) सहन करते रहे और सदैव दुर्बल ( ही ) बने रहें । उनके लिए यही न्याय है ( अर्थात् हमेशा चिन्ताओं से घिरा रहना तथा सदा दुर्बल रहना ही, प्रेमियों के लिए उचित है ) ।

सोएँ न सोयबो, जागें न जाग, अनोखियै लाग सु अँखिन लागी ।

देखत फूल, पै भूल भरी यह सूल रहै नित ही चित जागी ।

१ चेटक जान—सजीवन—मूर्ति रूप—अनूप महारस—पागी  
कौन बियोग दसा घनआनंद, मो मति सग रहै अति खागी ॥८३॥

विरहिणी प्रलाप करती हुई कहती है कि ( वियोग की इस विचित्र दशा के कारण मुझ से ) न तो सोने पर सोते बनता है और न जागने पर जागते ( अर्थात् न तो ठीक प्रकार से नींद ही आती है और न जागने पर जागरण काल की चेतना ) । ( पता नहीं कौन सी ) विलक्षण ( प्रेम ) की लगन नेत्रों में लग गई है कि ( ज़रा तक ये आँखें ) प्रियतम को देखती रहती हैं तब तक इन्हें आनन्द मिलता रहता है और उनके अभाव में, दर्शन न होने पर ) चित्त में भूल का विचार करके ( प्रिय के द्वारा अपने को भूल जाने का स्मरण करके उस से उत्पन्न ) वेदना इनमें नित्य प्रति छाई रहती है ( अर्थात् प्रिय की उदासीनता के कारण वेदना मन से कभी हटती ही नहीं । ) ( इतने पर भी ) अपने रूप की तुलना में अनुपम ( अद्वितीय ) एवं अत्यन्त रस में पगी हुई, प्रिय की जीवनदायनी मायाविनि मूर्ति ( मन से हटती नहीं ) ।

घनानन्द जी कहते हैं कि इस दुग्ध अवस्था से विचलित होकर विरहिणी पुकार रही है कि पता नहीं यह वियोग कैसा विलक्षण है ( अपना वियोग की दस अवस्थाओं में से कौन सी अवस्था आकर मुझ से लग गई है ) कि मेरी मति के साथ ( अर्थात् मेरे मन में ) प्रिय की उपर्युक्त मूर्ति के ध्यान में बने रहने पर भी ( प्रिय के भावात्मक सयोग के रहने हुए भी ) मुझे वियोग का दुग्ध उठाना पड़ता है ।





तेज तवै चितवै वरसै—विरोध अलंकार

विलुखे मिलें मीन पतग दशा—यथासंख्य अलंकार

तवै चितवै—यमक अलंकार

सुरम्नि सवै अंग, रह्यो न तनक रंग,  
वैरी सु अनग पीर पारै जरि गयौ ना ।

इते पै बसंत सो सहायक समीप दाके,  
महा मतवारो कहू काहू तें जु नयौ ना ।

तीखे नए नीके जीके गाहक सरनि लै लै,  
बेधै मन को कपूत पिता—मोह मयौ ना ।

गवन गवन सग प्राणनि पठायहीं तौ,  
जान घन आनंद को आवन जौ भयौ ना ॥८५॥

बराहणी काम पीड़ा से व्रत हो कर शकर जी द्वारा कामदेव को भस्म कर देने वाली प्रसिद्ध पौराणिक कथा को अन्यथा सिद्ध करती हुई कहती है —

मेरे सारे अंग शिथिल हो गए हैं और ( शरीर पर ) थोड़ी सी भी कान्ति नहीं रह गई है ( शरीर विवर्ण हो गया है ) । ( लोग कहते हैं कि कामदेव जल गया किन्तु वह वैरी तो अंग भी पीड़ा देता है । अभी वह जल नहीं गया है । उसके पास तो बसन्त जैसा सहायक है और स्वयं वह ( कामदेव महा मदोन्मत्त है । ( अभी तक वह ) कहीं किसी के सामने मुका नहीं है ( भस्म होना तो और भी दूर की बात है ) । वह तीक्ष्ण, नवीन एवं ( अच्छी मार करने वाले ) अच्छे तथा प्राणों के गाहक, ( प्राण हरण कर लेने वाले ) प्राणों को लेकर ( मेरे ) मन को ( मनोज होकर भी ) ब्रेधता है । ( अतः ) उसमें पिता के प्रति भी ममता नहीं है वह कपूत है । ( मनोज भी काम का पर्याय है । अतः मन उसका पिता है ) । ( यह विकलता मैं कब तक सहाले रहूँ ? ) यदि अत्यन्त आनंद देने वाले सुजान का आगमन नहीं हुआ तो उनकी ओर जाने वाली वायु के साथ ही साथ अपने प्राणों को भी मैं भेज दूँगी ( अर्थात् स्वयं प्राणों का त्याग कर दूँगी ) ।

पीरि परि देह, छीनी राजति सनेह भीनी,

ऊकीनी है अनग अंग अंग रग—वोरी—सी ।

नैन पिचकारी जौ चली है कर दिन रैन,

यगराए बारनि फिरत भ्रमोरी सी ।

कहाँ लौँ बखानों घन आनंद दुहेली दसा,  
 फाग मई भई जान प्यारे वह भौरी सी ।  
 तिहारे निहारे बिन प्राननि करति होरा,  
 विरह अंगारनि मगारि हिय होरी सी ॥८३॥

विरहिणी की विरहावस्था का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

उस नायिका की प्रेम से युक्त अगव्यष्टि पीली पड़ कर, दुबली पतली होकर, सुशोभित हो रही है । ( उसे देखकर प्रतीत होता है कि ) कामदेव ने ( उसके ) प्रत्येक अंग को रंग में डुबो देने की व्यवस्था की है ( अर्थात् उसका सारा शरीर पीला पड़ गया है ) । उसके नेत्र दिन-रात पिचकारी की तरह चलते ही रहने हैं ( अर्थात् वह दिन रात आँसू ही बहाती रहती है ) और वह भकभोरी हुई सी बाल बिखेरे ( छिटकाए ) हुए फिरती रहती है । [ नायिका के बाल अस्त व्यस्तता के कारण बिखर गए हैं । उन्हें देख कर प्रतीत होता है मानों होली में किसी के द्वारा भकभोर 'दिए जाने से वे छिटक गए हैं' ] हे अत्यन्त आनन्द दायक ( प्रियतम ! ) मैं उसकी कष्टपूर्ण अवस्था का कहीं तक वर्णन करूँ ? ( आपके वियोग कष्ट सहते सहते ) प्यारे सुजान ! वह भोली सी ( विरहिणी ) फाग मयी हो गई है ( होली खेलने वालों के सारे लक्षण उसमें आगए हैं ) । आपके दर्शनों के अभाव में ( वह नायिका ) विरह के अगारों से हृदय में होली सी जलाकर उसमें अपने प्राणों को ( भून कर ) होरा ( भुने हुए हरे चने ) करती रहती है ।

अलंकार—सारे कवित्त में उपमा पुष्ट सागरूपक की व्यञ्जना है ।

अंग-अंग—पुनरुक्ति प्रकाश । अनग अग—यमक ।

नैन पिचकारी ब्यों— उदाहरण अलंकार ।

“प्राननि करति होरा विरह अंगारनि अगारि हिय होरी सी”—साग रूपक ।

होरा.—होला, चने के हरे पौधे को उखाड़ कर गाँव के किसान प्रायः आग से भून लेते हैं । इन भुने हुए चनों के दानों को होरा या होला कहा जाता है ।

मिश्र जी ने पाद टिप्पणी में होरा का अर्थ होला देकर उसकी व्याख्या में ‘आग की लपट में भूना हुआ अनाज का हरा पौधा’ कहा है । परन्तु हर अनाज के भुने हुए हरे पौधे को होरा न कहकर ब्रज प्रान्त में ‘होरा’ शब्द चने के भुने हुए हरे पौधे के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।



‘तपति-बुझावनि’ के योग में ‘अनन्दघन’ का अर्थ ‘आनन्द देने वाले मेघ’ करने पर ‘जान’ के इस साभिप्राय विशेषण में परिकराकुंर अलंकार होगा ।

अनन्दघन—अत्यन्त आनन्द देने वाली सुजान, तथा आनन्द दायक घन—श्लेष अलंकार । होरी सी—उपमा

## संयोग कल्पना

सुनि री सजनी ! रजनी की कथा इन नैन-चकोरन ज्यों वितई ।  
मुख-चंद्र सुजान सजीवन को लखि पाएँ भई कुछ रीति नई ।  
अमिलापनि आतुरसाई—घटा तब ही घन आनंद आनि छई ।  
सु बिहात न जानि परी भ्रम सी कब है विसवासिनि वीति गई ॥८८॥

विरहिणी अपनी सखी से रात्रि की कथा कहती है—

हे प्रिय सखी ! इन नेत्र रूपी चकोरो ने रात को जिस प्रकार व्यतीत किया उसकी कथा को सुनो । जब इन्होंने जीवनदायिनी सुजान के मुख रूपी चंद्र को देखा तो कुछ विलक्षण रीति होगई । ( उसके कारण मैं उनका मुख भली भाँति नहीं देख पाई । ) उसी समय अमिलाषाओं के कारण, अथवा उत्कण्ठा से, हडबड़ी की घटा आकर ( नेत्रों के सामने ) छागई और ( परिणाम स्वरूप रात्रि बड़ी शोघता से व्यतीत होगई ) । वह ( रात ) व्यतीत होती हुई पता ही न चली ( केवल ) भ्रम के समान जात हुई अर्थात् उसका ( रात का ) भ्रम सा हुआ तथा मैं यह न जान पाई कि वह विश्वासघातिनी कितने समय में अथवा किस क्षण समाप्त होगई ।

सारांश यह है कि संयोग काल में रात विरहिणी को बहुत छोटी लगी थी । इसीलिए मिलन काल की ‘स्मृति’ रात्रि के द्वारा विश्वासघात किए जाने से, ‘अमर्ष’ से अनुप्राणित होकर भर्त्सना का रूप धारण कर गई है । रात के लिए ‘विस वासिन’ ( विश्वासघातिनी ) विशेषण लगा कर मोठी चुटकी लेते हुए कवि ने नायिका के मन की अपार वेदना भी व्यक्त कर दी है ।

“मुख चन्द्र सुजान सजीवन को  
लखि पाँय भई कुछ रीति नई”

यहाँ रात्रि ने विश्वासघात किया वह तो किया ही इसके अतिरिक्त और भी ‘कुछ नई रीति हो गई’ थी । मुख-चन्द्र दिखाई ही पड़ा था कि घटाओं में



हाय निरदर्श को हमारी सुधि कैसे आई,—

कौन विधि दीनी पाती दीन जानि कै भनी ।

मूठ की सच्चाई छाक्यौ ल्यौ हित कच्चाई पाक्यौ,

ताके गुनगन घन आनंद कहा गनौ ॥६०॥

पर्याप्त समयोपरान्त प्रिय का संदेश वाहक पत्र लेकर आया है । पत्र-वाहक पत्र देकर तुरन्त ही लौट जाना चाहता है । प्रेमिका उसी से कहती है,—

प्रिय जहाँ जहाँ से गए वहाँ वहाँ से मेरे नेत्रों पर पैर रख कर ही गए अर्थात् मेरे नेत्र लगातार उनका जाना निर्निमेष देखते रहे । मानो मेरे ये विचारे प्राण कदम कदम पर निछावर हो गए अथवा उनकी चाल पर लोट पोट होते रहे । मैं हा ! हा ! खाती हूँ तुम शीघ्रता न करो । तनिक फँट छोड़कर आराम से तो बैठो । मुझे (अभी तुम से) उस विश्वासघाती (प्रिय का) बहुत सा हॉल 'पूछना है । मुझे (निरह से दुःखी एवं) दीन समझकर (तुम) यह बताओ कि उस निष्ठुर को मेरा स्मरण कैसे हो आया ? और ( उसने मेरे लिए ) पत्र किस प्रकार दिया ? (वह मेरा निर्दय प्रिय) मूठ बोलने की सच्चाई से भरा पूरा है अर्थात् यदि उसमें किसी बात की सच्चाई है तो केवल मूठ बोलने की और (ठीक) इसी प्रकार (वह) प्रेम के कच्चेपन से पका हुआ है अर्थात् यदि वह किसी बात में पक्का है तो केवल प्रेम के कच्चेपन में । इस प्रकार वनानंद जी कहते हैं कि उस मूठ बोलने में प्रवीण एवं प्रेम के कच्चे (विश्वासघाती प्रिय के) गुणों की कहीं तक प्रशंसा की जाय ? अर्थात् (विपरीत लक्षण से) उसके अवगुणों का कहीं तक उद्धाटन किया जाय । उसमें तो अवगुण ही अवगुण हैं । गुणों का लेश मात्र भी नहीं है ।

अलंकार—बारे ये विचारे प्रान पैड़ पैड़ पै भनी—उल्लेख । पैड़ पैड़—पुनरुक्ति प्रकाश । हा हा—वीप्सा अलंकार

मूठ की सच्चाई छाक्यौ—विरोधाभास । ल्यौ हित कच्चाई पाक्यौ—विरोधाभास । ताके गुनगन कहा गनौ ?—वक्रोक्ति ।

परे वीर पौन ! तेरा सवै आर गान, बारा हू

तो सो और कौन, मनेँ दरकौहीँ बानि है

जगत के प्रान, आछे वड़े सोँ समान घन,

आनंद—निधान सुखदान दुखियानि है ।

पाँच पहिचानि हैं इस वाक्याग का अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रियतम मेरी पहचान को ही पाँच दूत हैं अर्थात् मैं प्रेम का हा भुजा चुक हूँ।

हमारे साहित्य में मिश्राम्या में प्रिय तक अपना मन्त्र पहचान के प्रयत्न में अनेक जट तथा चेतन दूतों की योजना अगर हातो आई है। कालिदास ने यक्षिणी तक कामातुर यक्ष का संदेश पहुँचाने का भार मेघ पर रखा है। उर्माम प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त कर के अन्य कवियों ने भी अनेक अचतन पदार्थों को ढूँढ बनाकर भेजा है। भ्रमर, काग, कोकिल, चातक, मेघ पवन आदि से अनेक सदृश्यों ने दूतत्व कराया है। आज तक यह परम्परा अनुकरण चली आती है तथा नवीन नवीन दूतों की सृष्टि होती जा रही है यथा रेल-दूत, 'पत्र-दूत' आदि।

विरहियों की मानसिक स्थिति सामान्यतः ऐसी ही जाती है कि वे अपने प्रेम की एकनिष्ठता में कभी अविश्वास नहीं कर पाते। और स्वभाविक रूप से अपने प्रिय को अमोही, कठोर, विश्वास घाती आदि मान बैठते हैं। परन्तु फिर भी उन्हें सदा विश्वास बना रहता है कि प्रिय मुझे दुःखी नहीं देख सकता। मुझे तनिक कष्टों में पड़ा हुआ देखकर यह हो ही नहीं सकता, कि वह मौन होना रहे। इसी-लिए प्रायः सभी विरही अपनी दुःख दशा का निवेदन दूसरों के सामने करके अपने संदेश द्वारा प्रिय के हृदय में अपने प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

घनानन्द के इस पवन-दूत में कोई संदेश प्रिय तक पहुँचाने का अनुरोध नहीं किया गया। विरहिणी पवन की प्रशस्ति गाकर उससे प्रियतम की चरण-रज लाने की प्रार्थना भर करती है। तनिक सो धूलि ओंखों में पड़ जाने पर कैसी दुर्गति हो जाती है सभी जानते हैं परन्तु उसे वही दुःखदायी धूलि प्रेमातिरेक में संवध भावना के कारण 'विरह वियाहि मूरि' प्रतीत होती है। घनानन्द के इस दूत-कर्तव्य विपर्यय के मूल में उनकी विषम प्रेम स्थिति कार्य करती हुई दृष्टिोच्चर होती है। अतः पवन की दूत बनाने की प्रेरणा चाहे उनकी मौलिक उद्भावना न भी हो तो भी संदेश प्रस्तुत करने का ढग और संदेश दोनों ही बहुत सुंदर बन पड़े हैं जिसमें आत्मानुभूति का गंभीर पुट है।

इस पद की तीसरी और चौथी पंक्तियों के नाद सौंदर्य की प्रशंसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत की है। उन्हें उन पंक्तियों की गति में मृदंग की ध्वनि का आभास मिलता है। वस्तुतः इस पद की संगीतात्मकता अद्भुत है। तीसरी और चौथी पंक्तियों में दीर्घ स्वरों के लगातार आने से पद की गति में मंथरता का आभास मिलता है। साथ ही अन्तर-वर्ण मैत्री की भी सुंदर योजना है जिससे कवित्त का नाद सौंदर्य और भी अधिक बढ़ जाता है यथा पौन, जौन, कौन; प्रान, समान, निधान, सुखदान; उजियारे, गुनमारे, मोही प्यारे; भूरि, पूरि धूरि आदि।  
प्रान—( जीवन, वायु ) श्लेष। मोही, अमोही—यमक। हा हा ! वीप्सा।

✕ पाती-मधि छाती-द्वत लिखि न लिखाए जाहिं,  
काती लै विरह घाती कीने जैसे हाल हैं।  
आँगुरी वहकि तहीं पाँगुरी किलकि होति,  
ताती राती दसन के जाल ज्वाल माल हैं।





उन्होंने हृदय के ताप को दिखाने के लिए 'विधि बनावट चौपट' कराने का साहस कम किया है। फलतः उनके काव्य में ऊहात्मक अश कम मिलते हैं प्रस्तुत कवित्त में ताप की ऊहात्मक पद्धति पर व्यञ्जना की गई है। किन्तु इस प्रकार के पद बहुत कम सख्या में उन्होंने लिखे हैं।

पती-मधि ...	हाल हैं	}	ऊहा
अगुरी .....	ज्वाल माल हैं।		
आँवा सम....	तिहि काल हैं		
नेह .	मसाल हैं		

पाती, छाती, घाती, काती में सु दर अन्तर्वर्ण मैत्री है।

नेह, बातें—श्लेष अलंकार। ज्यों पुंचनि मसाल हैं—उदाहरण  
आँवा सम—उपमा।

## विरहोद्दोषन और प्रकृति

नेह निधान सुजान-समीप तौ, सींचति ही हियरा सियराई।

सोई कियौ अब और भई, दर्ई हेरत ही मति जाति हिराई।

हे विपरीति महा धन आनंद अंबर तें धर कौं भर आई।

जारति अंग अनग की आँचनि जोन्ह नही सु नई अगिलाई ॥६३॥

संयोग काल के सुखदायक प्रकृति व्यापारों से विरही मन दुःख का सकलन कर उठता है। जो संयोग काल में सुख देने वाली वस्तुएँ होती हैं वहीं वियोग बेला में दुःखोद्बोधक हो जाती हैं। यहाँ संयोग काल में सुखदायक शीतल चंद्रिका से प्रेमी के व्यथा हो रही है। वह उसे नए प्रकार के अग्नि-समूह जैसी प्रतीत होती है। विरही उसी का वर्णन करता हुआ कहता है—

जब प्रेम के आधार प्रियतम (सुजान) पास थे (अर्थात् संयोग काल में) तो (यही चंद्रिका अपनी शीतलता से) सींचती थी और सींचकर हृदय ठंडा करती थी। (क्या यह चंद्रिका वही है अथवा बदल गई है (परिस्थितियों के बदल जाने से इसके गुणों में भी, लगता है, परिवर्तन होगया है) (अरे! हे भगवन! (इसे तो) देखते ही (इसकी ओर दृष्टि जाते ही) बुद्धि हिरा जाती है (बुद्धि खो जाती है) (मुझे लगता है कि यह चंद्रिका नहीं है बल्कि अग्नि है) घनानंद जी कहते हैं कि इस अग्नि में एक बड़ी उलटी बात है। यह आकाश से चलकर (सामान्य अग्नि



खकर हृदय का वैर्य जाता रहता है। राग की सामग्रियों विराग उत्पन्न करती हैं। होली के गाने उदासी उत्पन्न करने वाले हो रहे हैं और उसी प्रकार घमार (होली के गीत), (तलवार की) धार जैसे दुःख लगते हैं। (कहाँ तक कहूँ) सबका ही राग एक दम पलट गया है। और तो और होली के दिनों में रंगों से रंग देने वाले प्रथम सुजान के अभाव में अत्यधिक रंग खेले जाना वाला महीना फागुन ही मुक्तो फीका अर्थात् रंग रहित प्रतीत होता है।

अन्तिम पक्ति का श्लेष बल से निम्न अर्थ हो सकता है :—

अनन्द से पूर्ण रूपेण भर देने वाले प्रियतम सुजान के अभाव में अत्यन्त हर्षाल्लास से पूर्ण रहने वाला फागुन का महीना भी नायिका को अच्छा नहीं लगता उस समय भी नायिका पर हर्ष के स्थान पर उदासी ही छाई रहती है।

यहाँ संयोग काल की सुख देने वाली वस्तुएँ वियोग काल में दुःख को उद्दीप्त करने वाली अक्ति की गई हैं।

अलंकार—राग विराग—यमक। वांसी—उपमा।

रग—(राग, आनन्द) श्लेष।

सास रोकना (उत्साहि रोकति); जी का गाहक होना (गाहक को), धीरज उड़ाना (उड़ान्त, धीरज ही को), ढंग लौट पड़ना (लौटि पर्यौ ढेंग), फीका लगना (लागत फागुन फीको) आदि कई मुहावरों का सुंदर प्रयोग हुआ है।

तौ मधुर लागै वाको विष अंग भएँ,

याहि देखेँ रस हूँ मैं कटुता बसति है।

वाके एक मुख ही तेँ बाढ़त विकार तन,

यह सरवंग आनि प्राननि गसति है।

सुंदर सुजान जू सजीवन तिहारो ध्यान,

तासोँ कोटि गुनी है लहरि सरसति हैं।

पापिनि डरारी भारी साँपिनी निसा बिसारी,

वैरिनि अनोखी मोहिँ बाहनि डमति है ॥६७॥

इस कवित्त में रात्रि वियोगिनी के लिए अपनी भीषणता में विधैली सर्पिणी

अग्ने प्रति प्रकृति की सवेदना का अनुभव सा करता हुआ विरही प्रिय से अग्ना अनुमान निर्गोदित करता है । वर कइता है —

पेट में भरकर व्याकुल हुए (तुम्हारे) उम (विरही) की ओर देखकर ( अर्थात् विरही की शोक-ज्वाला में स्वयं ग्राकुल होकर) पिनली भी मानों व्याकुलता के कारण उर-उर भटकती हुई नमका करती है या जला करती है ।  
 मैं न के लिए (एक मात्र) अग्नय अपने प्रिय के प्रति प्रेम की प्रतिज्ञा से पूर्ण होकर अंग उर्मा की पुकारों को (या पिउ पिउ की गू को) (अपना ध्येय बना कर चुकी) परीय पत्नी भोगा चिल्लाता हुआ (मानों मेरा ही अनकण्ण करता है) ।

खरक हृदय का धैर्य जाता रहता है। राग की सामग्रियों विराग उत्पन्न करती हैं। होली के गाने उदासी उत्पन्न करने वाले हो रहे हैं और उसी प्रकार धमार (होली के ली); (तिलवार की) बार जैसे दु खट लगते हैं। (कहाँ तक कहूँ) सबका ही राग न एक दम पलट गया है। और तो और होली के दिनों में रंगों से रंग देने वाले मयम सुजान के अभाव में अत्यधिक रंग रंगेले जाना वाला महीना फागुन ही, फीका अर्थात् रंग रहित प्रतीत होता है।

अन्तिम पक्ति का श्लेष बल से निम्न अर्थ हो सकता है :—

आनन्द से पूर्ण रूपेण भर देने वाले प्रियतम सुजान के अभाव में अत्यन्त शोक्लासे से पूर्ण रहने वाला फागुन का महीना भी नायिका को अच्छा नहीं लगता उस समय भी नायिका पर हर्ष के स्थान पर उदासी ही छाई रहती है।

यहाँ मंयोग काल की सुख देने वाली वस्तुएं वियोग काल में दुःख को उद्दीप्त करने वाली अशक्ति की गई हैं।

श्लेकार—राग विराग—यमक। बारिखी—उपमा।

राग—(राग, आनन्द) श्लेष।

सास रोकना (उत्साहिं रोकति); जी का गाहक होना (गाहक जी को), धीरज उड़ाना (उड़ावत धीरज ही को), ढंग लौट पड़ना (लौटि पर्यौ ढँग), फीका लगना (लागत फागुन फीको) आदि कई सुहावनों का सुंदर प्रयोग हुआ है।

कर्त्तव्य मधुर लागै वाको विष अंग भएँ,  
याहि देखेँ रस हूँ मैं कटुता बसति है।

बाके एक मुख ही तें वादत विकार तन,  
यह सरवंग आनि प्राननि गसति है।

सुंदर सुजान जू सजीवन तिहारो ध्यान,  
तासाँ कोटि गुनी है लहरि सरसति हैं।

पापिनि ढरारी भारी सर्पिनी निसाँ विसारी,  
वैरिनि अनोखी मोहिँ डाहनि डसति है ॥६७॥

इस कवित्त में रात्रि विजोगिनी के लिए अपनी मीमणता में विधैली सर्पिणी से भी बढ़कर मयकर बताई गई है।

अपने प्रति प्रकृति की सवेदना का अनुभव सा करता हुआ विरही प्रिय से अपना अनुमान निवेदित करता है । वह कहता है —

खेद से भरकर व्याकुल हुए (तुम्हारे) उस (विरही) की ओर देखकर (अर्थात् विरही की शोक-ज्वाला से स्वयं आकुल होकर) बिजली भी मानों व्याकुलता के कारण इधर-उधर भटकती हुई चमका करती है या जला करती है । जीवन के लिए (एक मात्र) अवलम्ब अपने प्रिय के प्रति प्रेम की प्रतिज्ञा से पूर्ण होकर और उर्सा की पुकारों को (या पिउ पिउ की रट को) (अपना ध्येय बना कर दु खी) पपीहा पक्षी हमेशा चिल्लाता हुआ (मानों मेरा ही अनुकरण करता है) । घनानन्द जी कहते हैं कि मानों उद्वेग-जन्य व्याकुलता से अस्थिर (विरही की) दशा देखकर ही, दु ख का मारा हुआ वायु वन की गलियों में गूँजता रहता है और जो ये मेघों से बूँदें गिरती हैं वे हे प्रियतम सुजान । मेरे मतानुसार (मेरे अनुमान से) (मेघों से गिरने वाली) बूँदे नहीं है बल्कि तुम्हारे विरही की दशा को देखकर करुणा से द्रवीभूत हुए मेघों के भरते हुए आँसुओं को बूँदें हैं ।

अलंकार—बूँदें न परति मेरे जान भर्यौ करै । अपहृति अलंकार (बूँदें नहीं बल्कि मेघों के आँसू भरते रहते हैं) ।

जान, जान—यमक

सौँधी की वास उसासहि रोकति, चदन दाहक गाहक जी को ।

नैननि बैरी सो है री गुलाल अवीर उदावत धीरज ही को ।

राग विराग धमार त्यों धारि सी, लौटि पर्यौ ढँग यों सब ही को ।

रग रचावन जान बिना घन आनंद लागत फागुन फीको ॥६६॥

‘रग-रचाने’ वाले सुजान के अभाव में सब वस्तुओं का “ढग लौट पड़ा है” । इसी को लेकर नायिका कहती है कि —

सुगंधित पदार्थों की गंध सासों को ही रोकती है अर्थात् सुगंध से सास ही रुक जाती हैं तथा शीतलता देने के स्थान पर चदन जलाने वाला और प्राणों का लेने वाला होगया है (अर्थात् उसके लेप करने से शरीर में दाह उत्पन्न हो उठता है और प्रतीत होने लगता कि प्राण ग्रह नहीं बचेंगे) । [ हे सखी ] यह गुलाल नेत्रों के लिए बैरी है (अर्थात् गुलाब को देख कर नेत्रों को पीड़ा मिलती है) । जंगल की ओर दृष्टि के वैर्य को ही उड़ाता रहता है । अर्थात् अवीर का उड़ना

कर हृदय का धैर्य जाता रहता है। राग की सामग्रियों विराग उत्पन्न करती हैं। ली के गाने उदासी उत्पन्न करने वाले हो रहे हैं और उसी प्रकार घमार (होली के त), (तलवार की), धार जैसे दुःखद लगते हैं। (कहाँ तक कहूँ) सबका ही राग एक टम पलट गया है। और तो और होली के दिनों में रंगों से रँग देने वाले यम-सुजान के अभाव में अत्यधिक रंग छेले जाना वाला महीना फागुन ही फीका अर्थात् रंग रहित प्रतीत होता है।

अन्तिम पक्ति का श्लेष बल से निम्न अर्थ हो सकता है :—

आनन्द मे पूर्ण रूपेण भर देने वाले प्रियतम सुजान के अभाव में अत्यन्त रोलास से पूर्ण रहने वाला फागुन का महीना भी नायिका को अच्छा नहीं लगता उस समय भी नायिका पर हर्ष के स्थान पर उदासी ही छाई रहती है।

यहाँ संयोग काल की सुख देने वाली वस्तुएं वियोग काल में दुःख को उद्दीप्त करने वाली अकित की गई हैं।

अलंकार—राग विराग—यमक। धारिणी—उपमा।

राग—(राग, आनन्द) श्लेष।

सास रोकना (उत्साह रोकित); जी का गाहक होना (गाहक की को); धीरज उड़ाना (उड़ावत धीरज ही को); दंग लौट पड़ना लौटि पर्यौ दंग); फीका लगना (लागत फागुन फीको) आदि कई मुहावरों का सुंदर प्रयोग हुआ है।

करवौ मधुर लागै बाको विष अंग भएँ,  
याहि देखेँ रस हूँ मैं कटुता बसति है।

बाके एक सुख ही तेँ बाढत विकार, तन,  
यह सरवंग आनि प्राननि गसति है।

सुंदर सुजान जू सजीवन तिहारो ध्यान,  
तासोँ कोटि गुनी है लहरि सरसति है।

पापनि ढरारी भारी सौपिनी निसाँ विसारी,  
वैरिनि अनोखी मोहिँ दाहनि डमति है ॥६७॥

इस कवित्त में रात्रि विरोधिनी के लिए अपनी मीमंशता में विपैली सर्पिणी से भी बढ़कर मयकर बतार्द गई है।



में उड़ जाता है, परन्तु यह (रात्रि) तो मग्न यमा में उसी दुष्ट प्राणा का रस लेती है, भली भाँति पकड़ लेती है। [सर्पिणी का विषय सामान्यतः श्रौंषागमन से उतर जाता है] किन्तु वह सुन्दर सुतान ! यद्यपि आशा था मरीजा है (अथवा जिताने वाला है फिर भी) उस यान के यान में विष की लज्ज सर्पिणी के विष की अवेक्षा कोटि गुनी होकर उड़ जाती है (इसलिए रात्रि पापिन, उड़ी डरावनी एवं विपत्ती सर्पिणी है जो कि दुःख की शर्मा में, होड़ लगाकर चित्तवृत्ति धरि (के सट्टन) मुझे कायती है। (रात्रि नागिन से उड़ जाना चाहती है, इसलिए उसकी होड़ लगा कर मुझे भली भाँति डमती है।)

यहाँ रात्रि विरहिणी के दुःख को उद्गीष्ट करने का कार्य कर रही है। नागिन को रात्रि का उपमान बनाना परम्परा से प्रसिद्ध है। 'सू' ने भी लिखा है—

‘पिया बिनु सोपिन कारी रात्रि’

घनानन्द की विरहिणी को वह सर्पिणी से भी अधिक डरावनी, एवं विपाक दिग्दर्श पड़ रही है।

अलंकार — पूरे कवित्त में व्यतिरेक पुष्ट सागरूपक अलंकार है।

कखो मसुर लागै,  
रस हूँ मैं कटुता बसति है।) विरोवाभास अलंकार

ध्यान सजीवन होने पर भी उससे लहरि कोटि गुनी होकर सरस्वती में विपाक है।

कारी कूर कोकिला । कहाँ को चैर काढत री,  
 कूकि कूकि अब हों करेजो किन कोरि लै ।  
 पड़े परे पापी ये कलापी निस घौस ज्यों ही,  
 चातक चातक त्यों ही तू हू कान फोरिलै ।  
 आनंद के घन प्रान जीवन सुजान बिना,  
 जानि कै अकेली सब वेंरौ दल जोरि लै ।  
 जौ लौं करै आवन विनोद बरसावन घे,  
 तौ लौं रे हरारे बजमारे घन घोरि लै ॥६८॥

त कवित्त में प्रकृति उद्दीपन रूप में अंकित की गई है । विरहिणी का कलापी, चातक, घन सभी धातक प्रतीत होते हैं । उनकी ध्वनियों से श्रुणाओं को बढ़ता हुआ अनुभव करके वह उन्हें सम्बोधित करके कहती है- । काले रंग वाली एव कूर कोकिले । तू मुझ से अपनी किस शत्रुता कर रही है ( जो इस प्रकार बोल रही है ) अभी इसी क्षण कूक-कूक कर के मेरे दय को ही ( जो मेरे सब कष्टों का कारण है ) खोद खोद कर क्यों मार लेती । दिन-रात जिस प्रकार ये पापी कलापी मेरे पीछे पड़े हुए हैं उसी प्रकार चातक । तू भी मेरे कानों को क्यों नहीं फोड़ देता ( जिससे मेरे कानों की और मोरों की अत्यन्त कष्टदायी बोलियों को सुनकर दुःख बन कर ) । आनंद के मेघ के अर्थात् अत्यन्त आनंद देने वाले और प्राण सुजान के अभाव में ( विपरीत आचरण देने वाले हे पक्षियों तुम सब शत्रुता समझ कर और अपनी पूरी सेना लेकर मुझे घेर लो अर्थात् मुझे नो सहन करने को विवश किए रहो ) और जब तक वे विनोद के बरसाने का अत्यन्त सुख देने वाले ( प्रियतम लौटकर ) आए तब तक अहमारे (गालों विशेष) एव डरावने मेघ (तूभी) गरज ले ( अर्थात् मुझे पीड़ित करे ) प्रियतम आज्ञायोगे फिर तुम्हें मुझे पीड़ा पहुँचाने का ऐसा अवसर मिलेगा ) ।

त कवित्त का, श्रुतियों की दृष्टि से, वर्षाकाल से सम्बन्ध है । इसमें आप कोकिला, कलापी, चातक तथा मेघों का सबध वर्षा श्रुत से स्पष्ट है उनकी गर्जन ध्वनि या ( कुहू कुहू, कौं कौ, तथा पियु पियु ) विरहि



